श्रीमद्भगवद्गीता

सार संग्रह

सुश्री गोदावरी मेहरोत्रा

श्रीमद्भगवद्गीता

सार-संग्रह

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ।।

लेखिका :

सुश्री गोदावरी मेहरोत्रा

लेखिका :-

कु० गोदावरी मेहरोत्रा

संस्कृत प्रवक्ता

आर्य महिला इण्टर कालेज, वाराणसी
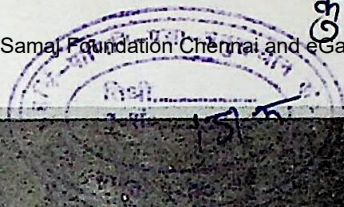
भगवान की कृपा बिना संसार का कोई कार्य न होता है न हो सकता है। उन्हीं की इच्छा से मैं, उक्त पवित्र कार्य में अपने को लगा रही हूँ।

ईश वन्दना

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते

दैत्यं दारयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।

पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते

म्लेच्छान् मूर्च्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ॥

❋

अज्ञानतिमिरान्ध्यस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया

चक्षूरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥

❋

इदं च त्वां सर्व परं ब्रवीमि

पुण्यप्रदं तात महाविशिष्टम् ।

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्

धर्मं जह्याज्जीवितस्यापि हेतोः ।

❋

पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है

मुकुर माहिं जस छाई ।

तैसे ही हरि बसै निरन्तर

घट ही खोजो भाई ॥

प्राक्कथन

"गीतासार-संग्रह" मेरा एक छोटसा सा प्रयास है । वर्तमान युग में 'गीता' के गूढ़ रहस्य को समझने, समझाने एवं उसको व्यवहारिक रूप, प्रदान करने की बहुत आवश्यकता है । इसीलिए आज 'गीता' का प्रचार-प्रसार हमारे विद्वत् मण्डल का प्रमुख लक्ष्य बन गया है । इसके लिए समाज का प्रबुद्धवर्ग, आध्यात्मिक विचारक एवं धर्मज्ञ-समाज, इस दिशा में सतत् प्रयासरत है । साथ ही इसके गूढ़ विंषय को सर्वग्राह्य बनाने के लिए सरल-साहित्यिक रचना-सृजन कार्य भी किये जा रहे हैं ।

विभिन्न संस्थाये अपने-अपने स्तर से प्रतियोगितायें आयोजित कर, बाल-बुद्धि को प्रारम्भ से ही इस रहस्यमय ग्रंश को समझाने के प्रयास में संलग्न है । मेरा यह प्रयास भी इसी क्रम की एक कड़ी है । प्रतियोगिताओं में पूछे जाने वाले विविध प्रश्नों क़े उत्तर तैयार करना विद्यार्थियों के लिए कठिन कार्य है । इस कठिनाई के कारण सामान्य-विद्यार्थी प्रायः गीता-प्रतियोगिता में भाग लेने से कतराता है । परन्तु यदि उसे लिखित सामग्री प्राप्त हो जाये तो वह संहर्ष उसे स्वीकार कर आगे बढ़ सकता है । विद्यार्थियों की इसी सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए, अपने माता-पिता व गुरुजन के आशीर्वाद तथा उनकी प्रेरणा से मैंने बृहद-गीता भण्डार से चुनकर कुछ प्रश्नों के उत्तर रूप में इस पुस्तिका को प्रस्तुत किया है ।

मुझे आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि भगवद्-कृपा से मेरे इस प्रयास को विद्वत वर्ग स्वीकार कर अवश्य मेरा उत्साहवर्धन करेंगे । ताकि इस दिशा में मेरे कार्य की लगन, व कार्य की निरन्तरता, स्थायित्व प्राप्त कर सके !

रचना में यदि किसी प्रकार की भाव-ग्रहण में कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए मैं क्षमा प्रार्थी हूँ ।

ॐ श्री परमात्मने नमः

आभार

गर्भधारणपोषाभ्यां सर्वेभ्यस्तवं गरीयसी ।
धमार्थकाममोक्षाणां मूलं मातृ नमोऽस्तुते ।।

सत्य है कि किसी भी व्यक्ति की सफलता के पीछे कोई न कोई प्रेरक शक्ति अवश्य कार्य करती रहती है । मेरी स्वर्गीया माँ एवं स्वर्गीय पूज्य पिताजी ही मेरी प्रेरणा है । मैं उनके श्रीचरणों में श्रद्धा पूर्वक नमन करती हूँ । प्रतिपल प्राप्त उनके आशीर्वाद एवं प्रेरणा से मुझे कुछ करते रहने का ज़ो प्रोत्साहन प्राप्त होता रहता है, उसके ही परिणाम-स्वरूप मैं इस गूढ़ रहस्यमय विषय पर कुछ लिखने का साहस कर सकी हूँ ।

पिता-तुल्य परम श्रद्धेय मेरे बड़े भाईसाहब (अवकाश प्राप्त प्राचार्य, पोस्ट ग्रेजुएट कॉलेज) सदैव अपने स्नेहाशीष से मेरा उत्साह वर्धन करते रहते हैं । जिनका स्वयं का पूरा जीवन ही गीतामय है । मैं उनके प्रति अपना सादर अभिनन्दन समर्पित करती हूँ ।

मैं उन सभी पूज्यजन, मित्र, बहनों तथा शिष्याओं के प्रति अपना आभार व्यक्त करना चाहती हूँ जिनकी सद्भावनायें इस कार्य को पूर्ण करने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मेरी शक्ति के रूप में कार्यरत रहती हैं ।

सादर समर्पित

डाक्टर राजाराम मेहरोत्रा

परमपूज्य बड़े भाईसाहब

(अवकाश प्राप्त प्राचार्य)

तथा

श्री माधोराम मेहरोत्रा

छोटे भाई साहब

(अवकाश प्राप्त आचार्य)

को

मेजर समरबहादुर सिंह
(राष्ट्रपति पुरस्कार प्राप्त)
एम. ए., पी-एच. डी., प्रवक्ता (हिन्दी)

छात्रावास अधीक्षक
राजकीय क्वींस कालेज
वाराणसी-221002

दिनांक 1-5-98

किसी भी गूढ़ ग्रंथ से सार-सार को ग्रहण कर, पाठकों तक लाने का कार्य वैसे ही दुरूह है जैसे अगाध जलधि से रत्नों को निकाल कर समाज को समर्पित करना। सुश्री गोदावरी मेहरोत्रा ने अपने अथक परिश्रम से इस रचना के द्वारा 'श्रीमद्भगवद्गीता' जैसे ग्रंथ के ज्ञान, दर्शन और उपदेशों को प्रश्नोत्तर के माध्यम से पाठकों के सम्मुख सरल शब्दों में रखकर निश्चय ही उनकी ज्ञानवृद्धि में सहायता की है। पुस्तक के आद्योपांत अध्ययन से लेखिका के गहन अध्ययन एवं विषय के प्रति उनका अनुशीलन सहज परिलक्षित होता है। लेखिका ने जिन प्रश्नों को चयनित कर उनका उत्तर लिखा है, वह अवश्य ही जिज्ञासु पाठकों की पिपासा को शांत करने में सफल होगा, ऐसा मुझे पूर्ण विश्वास है।

समर बहादुर सिंह

पण्डितराज श्री मुरलीधर पाण्डेय
आचार्य (लब्ध स्वर्ण पदक), एम.ए., डी.लिट्.
राष्ट्रपति सम्मानित

बी २/४७, तुलसीघाट मार्ग
भदैनी, वाराणसी - २२१ ००९

भारतीय विद्याओं में और भारतीय चिन्तन में वेद का स्थान सर्वोत्तम है । वेदों में भी उपनिषद्भाग को वेद का शिरास्थानीय कहा जाता है । इन उपनिषदों का सार भगवान् नन्दनन्दन श्री कृष्णचन्द्र के मुखारविन्द से निःसृत गीता है । कहा है –

सर्वोपनिषदोगावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
दुग्धं गीतामृतं चेनं तस्मै गीतादुहे नमः ।।

उस गीता के सार को प्रश्नोत्तर क्रम से सजाकर सामान्यजनों के लिए सुगम करने का काम विदुषी कुमारी गोदवरी मेहरोत्रा ने बड़े श्रम तथा लगन से किया है । गीता में जो कुछ नहीं है उसे भी शास्त्रान्तर से ले आकर इसमें रखा है । यह गन्थ जिज्ञासु विद्वज्जन तथा सामान्य जन दोनों के लिए समानरूप से उपयोगी तथा उपकारक होगा ऐसा मेरा विश्वास है । इसके लिए लेखिका धन्यवाद के पात्र हैं तथा इस प्रकार के धार्मिक दार्शनिक एवं सांस्कृतिक ग्रन्थ प्रणयन के लिए भगवान श्री विश्वनाथ इन्हें सतत प्रेरणा प्रदान किया करें ।

मुरलीधर पाण्डेय

मुरलीधर पाण्डेय

अनुक्रमणिका

ॐ

प्रश्न : "श्रीगीता" ग्रन्थ का पूरा नाम लिखिये ?

उत्तर : ग्रन्थ का पूरा नाम "**श्रीमद्‌भगवद्‌गीता**" है ।

प्रश्न : इस ग्रन्थ में कुल कितने अध्याय हैं ?

उत्तर : इस ग्रन्थ में कुल 18 अध्याय हैं ।

प्रश्न : 'इस ग्रन्थ के सभी अध्याय के नाम लिखिये ?

उत्तर : 1. अर्जुन् विषाद योग, 2. सांख्य योग, 3. कर्मयोग, 4. ज्ञान कर्म संन्यास योग, 5. कर्मसंन्यास योग, 6. आत्मसंयम योग, 7. ज्ञान-विज्ञान योग, 8. अक्षर ब्रह्मयोग, 9. राजविद्या-राजगुह्य योग, 10. विभूति योग, 11. विश्वरूपदर्शन योग, 12. भक्ति योग, 13. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग योग, 14. गुणत्रय विभाग योग, 15. पुरुषोत्तम योग, 16. देवासुर सम्पत्-विभाग योग, 17. श्रद्धात्रय विभाग योग, 18. मोक्ष सन्यास योग ।

प्रश्न : गीता के प्रत्येक अध्याय के श्लोकों की संख्या लिखिये ?

उत्तर : प्रथम अध्याय - 47; द्वितीय अध्याय - 72; तृतीय - 43; चतुर्थ अध्याय - 42; पञ्चम - 29; षष्ठ 47; सप्तम 30; अष्टम 28; नवम 34; दशम 42; एकादश 55; द्वादश 20; त्रयोदश 34; चतुर्दश 27; पञ्चदश 20; षोडष 24; सप्तदश 28; अष्टादश 78; कुल श्लोक संख्या - 700 ।

प्रश्न : युद्ध क्षेत्र में स्वजन-समुदाय को देखकर शोकाकुल अर्जुन की दशा का वर्णन अपने शब्दों में करिये ? (1/28 से 30)

उत्तर : युद्धभूमि में बन्धु-बान्धवों को देखते ही अर्जुन उनकी आसन्न मृत्यु से भयभीत हो उठा । निकवर्ती महाविनाश की कल्पना से उसके अंगों में कम्पन होने लगा और मुख सूख गया । वहाँ पर समवेत योद्धाओं की युद्धभावना को देखकर उसे महान् विस्मय हुआ । प्राय: सम्पूर्ण कुल, सभी कुटुम्बी उससे युद्ध करने आये थे । इससे दयामय भक्त अर्जुन करुणा से द्रवित हो उठा । भगवा [से बड़ी करुणा भरी वाणी में वह निवेदन करने लगा ।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ।।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते ।
न च शन्कोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ।।

उसका सम्पूर्ण शरीर अपने बन्धु-बान्धवों से युद्ध की, उनके विनाश की कल्पना मात्र से ही काँपने लगा। शरीर में रोमांच हो गया। यही नहीं वह इतना अधिक अधीर हो गया कि उसका त्रिभुवन-विश्रुत गाण्डीव धनुष तक उसके हाथ से गिरा जा रहा था। आन्तरिक दाह के कारण उसे अपनी त्वचा भी जलती प्रतीत हो रही थी।

अपनी इसी अस्थिर, अशान्त, विचलित, व्याकुल मनोदशा के कारण वह भगवान से निवेदन करता है कि वह वहाँ अधिक देर तक खड़ा नहीं रह सकता।

अति अधीर होने से अर्जुन युद्ध भूमि में स्थित रहने में असमर्थ हो गया। इतना ही नहीं, मन की दुर्बलतावश वह अपनी भी सुधि खोता जा रहा था। विषय में प्रबल आसक्ति मनुष्य को मोहमय स्थिति में पहुँचा देती है। अर्जुन को युद्धभूमि में केवल दु:ख की ही प्रतीति हो रही थी। उसे क्षात्र धर्म का भी विस्मरण हो गया। भविष्य में उसे सभी प्रकार से अमंगल दिखायी देने लगा। सभी दृष्टि से भविष्य में अकल्याण को ही देखता हुआ अर्जुन भगवान् से युद्ध न करने के विषय में भाँति-भाँति के तर्क उपस्थित करता है और अन्त में शोकाकुल, व्याकुल चित्त अर्जुन बाण सहित धनुष को त्याग कर रथ के पिछले भाग में बैठ जाता है।

प्रश्न : अर्जुन विजय और राज्य सुख क्यों नहीं चाहते ? (1/31 से 35)

उत्तर : अपने स्वजनों को युद्ध-क्षेत्र में देखकर अर्जुन का हृदय करूणा एवं विषाद से भर गया। उसने विविध तर्क युद्ध न करने के लिये प्रस्तुत किये। उसे विजय और राज्य सुख की चाह इसीलिये नहीं है, क्योंकि आत्मीय स्वजनों के मरने से चित्त में पश्चात्तापजनित क्षोभ होगा। उनके अभाव से जीवन दु:खमय हो जायेगा। उनको मारने से महान् पाप भी होगा। इन दृष्टियों से न तो इस लोक में कल्याण होगा और न ही परलोक में। इसके अलावा स्वजनों मो मारकर प्राप्त होने वाली विजय, राज्य आदि सुखों की अर्जुन को रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है। मनुष्य अपने सगे-सम्बन्धियों और प्रियजनों के लिये ही भोगों का संग्रह करता है। अर्जुन सोचता है कि जब ये सम्बन्धी ही मारे जायेंगे तब राज्य-सुख, विजय-सुख और अन्यान्य सुखों का मूल्य ही क्या होगा ? इसीलिये अर्जुन के मन में राज्य और विजयसुख को पाने की कामना नहीं है।

प्रश्न : कृष्ण ने अर्जुन-मोह और उसके कायरता युक्त विषाद को कैसे दूर किया ?

(2/2,3)

उत्तर : देहात्म बुद्धि के कारण कृपण मनुष्य की भाँति बुद्धिमान अर्जुन स्वजनों के लिये स्नेह एवम् उन्हें मृत्यु से बचाने की इच्छा से व्यग्र हो उठा। यह जानते हुए भी कि युद्ध-विषयक कर्त्तव्य उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं; वह कार्पण्य दोष वश, कर्त्तव्य का पालन करने में असमर्थ सा हो गया। शत्रु-विजयी वह भगवान् से कहने लगा कि मैं युद्ध नहीं करूँगा और अपने परम गुरू भगवान् श्रीकृष्ण से निर्णय देने का आग्रह करने लगा। उसके उत्तर में भगवान् अर्जुन को समझाते हुए कहने लगे -

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।

हे अर्जुन ! पाण्डित्यपूर्ण वचन बोलता हुआ भी तू उनके लिये शोक कर रहा है, जो शोक करने योग्य नहीं हैं। तू इतना भी नहीं जानता कि देहतत्त्व तथा आत्म तत्त्व के मर्म को जानने वाले पण्डितजन देह की जीवित अथवा मृत किसी भी अवस्था के लिये शोक नहीं करते। पण्डितजन तो जिनके प्राण चले गये हैं और जो जीवित हैं - किसी के लिये भी शोक नहीं करते हैं।

भगवान् ने कहा हे पार्थ ! स्वजनों की सम्भावित मृत्यु के लिये तुम्हारे शोक का कोई कारण नहीं है, क्योंकि वह अपने वर्तमान शरीर को त्याग कर नूतन देह को धारण करेंगे और ऐसा करने से नवशक्तियुक्त हो जायेंगे। देहान्तर विविध सुख-दुःख भोगने के निमित्त सिद्ध होता है। देह का नाश होता है। उसमें रहने वाला आत्मतत्त्व कभी नष्ट नहीं होता। वह अजर-अमर है। तुम अपने स्वधर्म का पालन करो। स्वभावतः देह सदा परिवर्तनशील है और आत्मा सनातन। मैं, तुम अथवा ये समस्त बन्धु-बान्धव, राजागण किसी काल में नहीं थे - ऐसा नहीं है अथवा भविष्य में नहीं रहेंगे - ऐसा भी नहीं है। केवल देह रूपी परिधान का परिवर्तन होता है, उसके अन्दर वर्तमान **चैतन्य** (आत्म तत्त्व) तो **अविनाशी है**; सदैव विद्यमान रहने वाला **अजन्मा है**। पुरातन वस्त्र की भाँति केवल शरीर-परिवर्तन होता है। इसलिए तू स्वधर्म का पालन करने के लिए तत्पर हो जा। स्वधर्मपालन से प्राणी मुक्ति लाभ करता है।

प्रश्न : आत्मा की नित्यता और निर्विकारता का निरूपण कीजिये ? (2/11 से 18)

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिता: ।। 2/11

उत्तर : आत्मा की नित्यता का बोध कराते हुई भगवान अर्जुन से कहते हैं कि तू न सोचने योग्यों के लिए शोक कर रहा है और पण्डितों के समान वचनों को कहता है अर्जुन! आत्मा अजन्मा शाश्वत और अनादि है । अर्जुन इस भय से युद्ध नहीं करना चाहता कि मेरे स्वजन मारे जायेंगे, उनका विनाश हो जायेगा । तब भगवान् कहते हैं - जिनके नाश की तुम आशंका करते हो, उनका नाश कभी नहीं होगा । वर्तमान शरीरों की उत्पत्ति से पहले भी यह शरीर था और बाद में भी रहेगा । आत्मा नित्य हैं । उसका नाश कभी नहीं हो सकता, अत: तुम्हारा स्वजनों के लिये शोक करना अनुचित है । भगवान कहते हैं -

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुंह्यति ।2/13।

अर्थात् जिस प्रकार शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था आती है, उसी प्रकार आत्मा एक शरीर के नष्ट होने पर दूसरे शरीर को प्राप्त करता है । इसीलिए आत्मा नित्य और निर्विकार है । सुख-दु:ख, लाभ-हानि आदि अनित्य हैं; किन्तु उन्हें नित्य मानने के कारण सुख का अभाव और दु:ख की प्राप्ति कष्टकर मालूम पड़ने लगती है । संयोग-वियोग आदि विकार अनित्य है, अत: उन्हें सहन करना चाहिए, क्योंकि आत्मा नित्य है । जिस व्यक्ति को यह इन्द्रिय और विषयों का संयोग व्याकुल नहीं रकता, वह मोक्ष के योग्य होता है जो वस्तु सत् होती है, उसका कभी अभाव नहीं होता और जो असत् होता है उसका कभी भाव अर्थात् अस्तित्व नहीं होता । आत्मा परमात्मा का अंश है । वह नित्य और सत् है ।सम्पूर्ण संसार उससे व्याप्त है । उसका विनाश कभी नहीं हो सकता । कोई भी उसका विनाश करने में समर्थ नहीं है । आत्मा नित्य, नाश रहित और निर्विकार है । अत: तुम इन स्वजनों के लिये शोक छोड़कर युद्ध के लिये तत्पर हो जाओ ।

प्रश्न : गीता में आत्मा का स्वरूप कैसा बनाया गया है ? (2/19 से 24)

उत्तर : 'गीता' में आत्मा का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है -

य एनं वेत्ति हन्तारं, यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो, नायं हन्ति न हन्यते ।। 19 ।।

न जायते भ्रियते वा कदाचिन्
नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।। 2-20 ।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजभव्ययम् ।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ।। 2-21 ।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।। 2-22 ।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।। 2-23 ।।
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनानतः ।। 2-24 ।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हति ।। 2-25 ।।

प्रश्न : जन्मादि षड्विकारों से रहित आत्म स्वरूप को निरूपति करने वाला श्लोक एवम् उसका अर्थ लिखिंये ? (2-20)

उत्तर : आत्मा उत्पत्ति आदि षड्विकारों से रहित हैं इस तथ्य का निरूपण 20वें श्लोक में किया गया है । उत्पत्ति आदि षड्विकार निम्नलिखित हैं :

1- उत्पत्ति (जन्म लेना), 2. अस्तित्व (उत्पन्न होकर सत्तावान् होना), 3. वृद्धि (बढ़ना), 4. विपरिणाम (दूसरे स्वरूप को प्राप्त होना), 5. अपक्षय (नष्ट होना या घटना), 6. विनाश (मर जाना) ।

आत्मा किसी काल में न जन्म लेता है न मरता है, न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है, क्योंकि यह आत्मा अजन्मा, अनित्य, सनातन, पुरातन है । शरीर के नष्ट होने पर भी यह नहीं होता -

न जायते म्रियते वा कदाचि
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो ।
न हन्यते हन्यमाने शरीर ।।2/20।

इस श्लोक में आत्मा को 'अजः' कह कर उसमें उत्पत्ति रूप विकार का अभाव सूचित किया गया है । 'अयं भूत्वा भूयः न भविता' अर्थात् यह जन्म लेकर फिर सत्ता वाला नहीं होता, बल्कि स्वभाव से ही सत् है - ऐसा कहकर अस्तित्व रूप विकार का, 'पुराणः' (चिरकालिक और सदा एक समान रहने वाला) कह कर वृद्धि रूप विकार का, नित्यः कहकर क्षय का,

'शाश्वत:' कह कर विपरिणाम रूप विकार का और 'शरीरे हन्यमाने न हन्यते' अर्थात् शरीर के नाश से इसका नाश नहीं होना - ऐसा कहकर विनाश रूप विकार का अभाव सूचित किया गया है ।

प्रश्न : आत्मा को नया शरीर कब मिलता है ? (2/22)

उत्तर :

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीरराणि विहाय जीर्णा -
न्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।2/22।

अणु-जीवात्मा परमात्मा की कृपा से देहान्तर करता है, यह एक स्वीकृत सत्य है। जैसे व्यक्ति के इस देह में क्रमशः शैशव से कुमारावस्था, कुमारावस्था से यौवनावस्था, और यौवन से जरावस्था के रूप में निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, इसी भाँति मृत्यु होने पर अन्य देह की प्राप्ति होती है । मनुष्य के पुराने वस्त्र को छोड़कर नये वस्त्र धारण करने के समान यह आत्मा देहान्तर अर्थात् नया शरीर धारण करता है ।

प्रश्न : आत्मा की अजरता-अमरता का प्रतिपादन करने वाला एक श्लोक एवम् उसका अर्थ लिखिये ? (2/24)

उत्तर :

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।

यह आत्मा अजर, अमर, अच्छेद्य, अदाह्य और अशोष्य है । आत्मा के ये गुण निश्चित रूप से सिद्ध करते हैं कि वह परमात्मा का शाश्वत अणु अंश है । आत्मा अविकारी है, वह सदा इसी रूप में रहता है। वह सर्वगत है । यह सर्वमत शब्द महत्त्वपूर्ण है । निःसन्देह जीवात्मा भगवान् की सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है । वह जल, थल, वायु, आकाश, पृथ्वी सभी में स्थित है । वह अचल, स्थिर रहने वाला और सनातन है ।

प्रश्न : मृत्यु का शोक क्यों उचित नहीं है ? (2/27)

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
तस्मादपरिहार्येऽर्थेन न त्वं शोचितुमर्हसि ।2/27।।

उत्तर : मृत्यु का शोक करना उचित इसलिये नहीं है क्योंकि जीवमात्र अपने कर्मों के अनुसार जन्म ग्रहण करता है । इस कारण एक कर्म-अवधि समाप्त हो जाने पर जीव को मर कर अगली देह के लिये पुनर्जन्म लेना पड़ता है । इस प्रकार मुक्ति के बिना जन्म-मृत्यु का यह चक्र चलता रहता है ।

आत्मा को मानने तथा न मानने वाले - इन दोनों ही प्रकार के दार्शनिकों के मत के अनुसार मृत्यु का शोक करने का कोई कारण नहीं है । जिनका आत्मा में विश्वास नहीं है, उन्हें वैदिक ज्ञान के अनुगामी 'अनीश्वरवादी'

कहते हैं । यदि तर्क के लिए नास्तिक मत को स्वीकार कर लिया जाये, तो भी शोक करना व्यर्थ है । आत्मा के पृथक स्वरूप के अतिरिक्त सम्पूर्ण प्राकृत-तत्त्व सृष्टि से पूर्व अव्यक्त रहते हैं । यह सिद्धान्त हे कि 'ऊर्जा' का कभी विनाश नहीं होता, यथासमय पदार्थ ही व्यक्त-अव्यक्त हुआ करते हैं। आदि-अन्त में सभी तत्त्व अव्यक्त रहते हैं, केवल मध्य में अभिव्यक्त होते हैं ।

भगवान् ने दूसरे अध्याय के ही 18वें श्लोक में बताया है जो एक वैदिक सिद्धान्त है कि देह यथासमय नाशवान है "अन्तवन्त इमें देहा" जबकि आत्मा नित्य है "नित्यस्योक्ता शरीरिण: तो यह स्मरण रहे कि देह परिधान मात्र है। अत: वस्त्र परिवर्तन के लिये शोक क्यों किया जाय ?

प्रश्न : कुरूक्षेत्र के मैदान में अर्जुन को छात्र-धर्म का उपदेश देते हुए युद्ध के त्याग को सब प्रकार से अनुचित क्यों सिद्ध किया गया है ? (2/31 से 38)

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।
धर्म्याद्धि युद्धाक्ष्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।।2/31।।

उत्तर : भगवान् श्रीकृष्ण युद्ध के त्याग को सर्वथा अनुचित सिद्ध कर अर्जुन को क्षत्रियोचित कर्त्तव्य के लिये प्रेरित करते हैं । वे कहते हैं कि क्षत्रिय के लिये धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर कल्याणकारी और कोई दूसरा कर्त्तव्य नहीं है । जिस युद्ध का आरम्भ अन्याय के लिये नहीं, बल्कि धर्म की रक्षा के लिये हुआ है उस युद्ध का - धर्मयुद्ध का - स्वागत करना ही क्षत्रिय के लिये परम कल्याणकारी कर्त्तव्य है । ऐसा धर्ममय युद्ध जो अपने आप कर्त्तव्यरूप से प्राप्त हुआ है, खुले हुए स्वर्ग-द्वार की तरह है जो प्रत्येक क्षत्रिय को नहीं मिल सकता, अत: तुम युद्ध के लिये तैयार हो जाओ । हे अर्जुन ! यदि तुम इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करोगे, तो अपने धर्म को त्यागने के कारण पाप होगा और पाप करने से तुम्हारी निन्दा होगी । इतना ही नहीं ऋषि, देवता और मनुष्यादि सभी लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे । यह निन्दा अनन्त काल तक बनी रहेगी । जो सम्माननीय व्यक्ति है, उसके लिये अपकीर्ति मृत्यु से भी बढ़कर कष्टकर है । संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।2/34/ पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, शल्य आदि जो महापुरुष वीर होने के कारण तुम्हारी प्रशंसा करते थे, तुम्हें महान योद्धा और धर्मात्मा मानते थे, वही अब युद्ध का त्याग करने से तुम्हें कायर मानेंगे । तुम उनकी दृष्टि से गिर जाओगे । वे महारथी यह नहीं मानेंगे कि तुम स्वजनों के प्रेमवश या युद्ध को पाप समझकर उसका परित्याग कर रहे हो, बल्कि वे तो यही समझेंगे कि तुम भयभीत होकर अपने

प्राण बचाने के लिये युद्ध को छोड़ रहे हो । हे अर्जुन ! दुर्योधन आदि तुम्हारे शत्रुगण तुम्हें कायर मानकर तुम्हारे युद्ध कौशल आदि की निन्दा करते हुए तुम पर भाँति-भाँति के असह्य व्यंग्य-वाणों की वर्षा करेंगे । अत: तुम युद्ध के लिये तैयार हो जाओ । यदि विजय तुम्हारी होगी, तो पृथ्वी का अखण्ड राज्य भोगोगे और यदि तुम मारे गये तो युद्ध में प्राणत्याग करने से तुम्हें स्वर्ग मिलेगा । अतएव हे अर्जुन ! युद्ध करना दोनों ही दृष्टियों से तुम्हारे लिये हितकर है । अत: अन्त में भगवान् अर्जुन से कहते हैं -

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय: ।2/37।।

प्रश्न : स्वाभिमानी के लिये मरण से भी कष्टकर क्या है ? (2/34)

उत्तर : 'अपकीर्ति' (अपयश) माननीय व्यक्तियों के लिये मरण से भी अधिक कष्टदायक है -

अकीर्तिं चापि भूतानि कथोयष्यन्ति तेऽव्ययाम् ।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। 2-34 ।।

प्रश्न : कर्मण्येवा ... ... श्लोक को पूर्ण करिये ।

उत्तर : कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। 2-47 ।।

प्रश्न : 'गीता' के अनुसार योग क्या है ? (2/48 से 50)

उत्तर : योगस्थ: कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्धसिद्धयो: समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ।। 2-49।।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से योग में स्थित होकर कर्म करने का आदेश देते हैं और योग का स्वरूप समझाते हुए कहते हैं कि योग का अर्थ है - नित्य विक्षुब्ध रहने वाली इन्द्रियों को वश में करके मन को परतत्त्व में एकाग्र करना । परतत्त्व भगवान् श्रीकृष्ण हैं । जय-पराजय, सिद्ध-असिद्धि का विचार किये बिना आसक्ति का त्याग कर, कृष्ण भावनाभावित होकर स्वधर्म का आचरण करना ही योग में स्थित होकर कर्म करना है अथवा मन का ऐसा समभाव ही 'योग' कहलाता है ।

प्रश्न : वैराग्य की स्थिति कब पैदा होती है ? (2/52,53)

उत्तर : यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।। 2-52 ।।

जब मनुष्य की बुद्धि मोहरूप सघन दलदल को पार कर जाती है अर्थात् संसार की मोहमाया से आसक्ति-रहित हो जाती है, उसके सभी कर्म श्रीकृष्ण भावनाभावित हो जाते हैं । श्रीकृष्ण का और उनसे अपने सम्बन्ध का तत्त्वबोध हो जाता है, तो सकाम कर्मों से स्वाभाविक विरक्ति हो जाती है-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा, स्थास्यति निश्चला ।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।। 2-53 ।।

प्रश्न : स्थित प्रज्ञ के क्या लक्षण हैं ? (2/55 से 58)

उत्तर : प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान् ।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ।। 2-55 ।।

मनुष्य जब मन में स्थित सम्पूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, चित्त द्वारा आत्मा में ही सन्तुष्ट रहता हे, तब उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

अर्थात् कृष्ण भावनामृत से परायण मनुष्य जिसकी समस्त विषय-वासनाएँ शान्त हो चुकी हैं - भक्तिनिष्ठ पुरुष जिसमें महर्षियों के सभी सद्गुण विद्यमान है, निवास करते हैं - उसे स्थितप्रज्ञ कहा जाता है ।

स्थितप्रज्ञ पुरुष किसी प्रकार के दु:ख की प्राप्ति में उद्वेग को प्राप्त नहीं होता है - वह सुख में स्पृहाशून्य रहता है और आसक्ति, भय व क्रोध से मुक्त रहता है ।

उसमें न राग होता है, न वैराग्य होता है; उसका तो पूरा जीवन ही श्रीकृष्ण की सेवा में समर्पित रहता है । शुभ-अशुभ से जो प्रभावित रहता है, वह पूर्ण ज्ञान से निष्ठ होता है ।

कछुआ जैसे अपने अंगों को समेट लेता है, उसी भाँति जो पुरुष अपनी समस्त इन्द्रियों को इन्द्रिय-विषयों से हटा सकता है, वह स्थितप्रज्ञ पुरुष कहा जाता है अर्थात् यथार्थ में वह परम ज्ञानी होता है ।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।2/57।

प्रश्न : श्रीमद्भगवद्गीता में भग्गवान् ने सर्वनाश का कारण किसे बताया है और क्यों ? (2/62, 63)

उत्तर : ध्यायतो विषयान्पुसः सङ्स्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधेऽभिजायते ।। 2-62 ।।

इन्द्रियों के विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य की उनमें आसक्ति हो जाती है । आसक्ति से काम और फिर काम से क्रोध होता है ।

जो मनुष्य कृष्ण भावनाभावित नहीं है, उनमें इन्द्रियों के विषयों के चिन्तन से विषयभोग की इच्छा उत्पन्न हो जाती है । आसक्ति उत्पन्न होती है और आसक्ति से व्यक्ति भोग-परायण हो जाता है । इसी काम-वासना से क्रोध की उत्पत्ति होती है । क्रोध से मोह की उत्पत्ति होती है और मोह से स्मरण शक्ति भ्रमित हो जाती है और स्मृति के भ्रमित होने से बुद्धि का नाश हो जाता है । फिर बुद्धिनाश के

कारण सर्व आपदाएँ खड़ी हो जाती है - व्यक्ति विनाश की ओर तीव्रगति से बढ़ने लगता है और वह सर्वनाश की ओर बढ़ता ही जाता है -

क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहास्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।। 2-63 ।।

प्रश्न : मनुष्य के पतन का क्या कारण है ? (2/62 से 64)

उत्तर : जो मनुष्य कृष्णभावनाभावित नहीं है उसमें इन्द्रिय-विषयों के चिन्तन से विषयभोग की इच्छा उत्पन्न हो जाती । वह वाह्य रूप से इन्द्रियों का कितना प्रबल रूप से दमन क्यों न करे, अन्त में निश्चित रूप से विफल ही रहेगा, क्योंकि ऐसे पुरूषों की विषयों में आसक्ति हो जाती है और उस आसक्ति से विषयों के भोग की कामना उत्पन्न होती है । सुख में लेशमात्र भी विघ्न होने से वह उत्तेजित हो उठता है, क्रोध का उद्गम हो जाता है ।

क्रोध से अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है और मूढ़भाव से स्मृति नष्ट हो जाती है ।

स्मृति का नाश होने से व्यक्ति की ज्ञान शक्ति नष्ट हो जाती है और बुद्धि का नाश होने से मनुष्य श्रेय साधन से गिर जाता है । इस प्रकार मन की तुच्छ उत्तेजना से मनुष्य का संसार-कूप में फिर से पतन हो जाता है ।

प्रश्न : मनुष्य कर्म किये बिना क्यों नहीं रह सकता ? (3/5)

उत्तर :

न हि कश्चिल्क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत ।
कार्यते ह्यवशः कर्म, सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

मनुष्य कर्म किये बिना इसलिए नहीं रह सकता, क्योंकि वह प्रकृति के गुणों की प्रेरणानुसार परवश हुआ कर्म करता है । वह क्षणमात्र भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता ।

आत्मा की सक्रियता का बद्ध-जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं, वह तो स्वभाव से ही नित्य क्रियाशील है । आत्मा की उपस्थिति के बिना प्राकृत-कलेवर कुछ भी चेष्टा नहीं कर सकता । देह तो एक चेतनाशून्य वाहन मात्र है, जिसे नित्य क्रियाशील आत्मा क्रियान्वित रखता है । माया के संसर्गवश दिव्य होने पर भी आत्मा प्राकृत गुणों को ग्रहण कर लेता है । इस दुःसंग के दुष्प्रभाव से आत्मा को शुद्ध करने के लिये यह आवश्यक है शास्त्र-विहित स्वधर्म का आचरण किया जाये: परन्तु यदि आत्मा अपने स्वरूपभूत कर्म-कृष्णभावना में ही तत्पर है, तो

वह जो कुछ भी करता है- वह उसके कल्याण के लिये पर्याप्त है ।

प्रश्न : मिथ्याचार क्या है ? (3/6)

उत्तर : **कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मानसा स्मरन् ।**
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचार: स उच्यते ।।

जो पुरुष कर्मेन्द्रियों को रोककर मन से इन्द्रियों के विषयों को स्मरण करता बैठा रहता है, वह मूढ़ात्मा मिथ्याचारी कहलाता है अर्थात् पूर्वकृत पापों के नाश न होने के कारण जो अपने मन, बुद्धि और इन्द्रियों पर विजय नहीं प्राप्त कर सका है ऐसा मनुष्य जब आत्मज्ञान के लिये साधना करता है, तो उसका मन विषयों की ओर झुका होने के कारण आत्मा से विमुख हो जाता है । वह मनुष्य विषयों का ही स्मरण करता है । इस प्रकार जो मन में संकल्प कुछ और करता है आचरण कुछ और करता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है ।

प्रश्न : सिद्ध कर्मयोगी के स्वरूप का वर्णन कीजिये ? (3/17,18)

उत्तर : सिद्ध कर्मयोगी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए भगवान् का कहना है -

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव: ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ।।

अर्थात् सिद्ध कर्मयोगी आत्मरत, आत्मतृप्त एवम् अपने में ही सन्तुष्ट रहने वाला होता है । उसकी दृष्टि में यह सम्पूर्ण जगत् स्वप्न से जगे हुए मनुष्य के लिये स्वप्न के समान होता है । उसकी किसी भी सांसारिक वस्तु में थोड़ी भी प्रीति नहीं होती और वह एकमात्र परमात्मा में ही अभिन्न भाव से अटल स्थिति वाला हो जाता है । परमात्मा के स्वरूप में अनन्य भाव से स्थित होकर वह सदा के लिये तृप्त हो जाता है । सांसारिक हर्ष-शोकादि विकारों से सर्वथा रहित होकर वह सच्चिदानन्दघन परमात्मा में निरन्तर सन्तुष्ट रहता है ।

मन इन्द्रियों सहित शरीर से - सिद्ध कर्मयोगी का कुछ भी सम्बन्ध शेष नहीं रहता, अत: वह वास्तव में कुछ भी नहीं करता; तथापि लोक-दृष्टि में उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियों के द्वारा पूर्व के अभ्यास से प्रारब्ध के अनुसार शास्त्रानुकूल कर्म होते रहते हैं । ऐसे कर्मयोगी ममता, अभिमान, आसक्ति और कामना से सर्वथा रहित होने के कारण परम पवित्र और दूसरों के लिये आदर्श होते हैं ।

सिद्ध कर्मयोगी के लिये न तो कर्मों का करना ही विधेय है और न उनका न करना ही विधेय है। वह शास्त्र के शासन से सर्वथा मुक्त हैं। तात्पर्य यह है कि जिसका देहाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है एवं जो परमात्मा की प्राप्ति के लिये साधन कर रहा है, ऐसा साधक यद्यपि स्वयम् के सुख-भोग के लिये कुछ भी नहीं चाहता तो भी शरीर-निर्वाह के लिये किसी न किसी रूप में उसका कुछ न कुछ सम्बन्ध स्वार्थ का अवश्य रहता है अतएव उसके लिये शास्त्र के अनुसार कर्मों का ग्रहण-त्याग करना कर्त्तव्य है, जबकि सच्चिदानन्द परमात्मा को प्राप्त कर्मयोगी को शरीर में अभिमान न रहने के कारण - जीवन की भी परवाह नहीं रहती। ऐसी स्थिति में उसके शरीर का निर्वाह प्रारब्धनुसार अपने-आप होता रहता है। अतएव उसका कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहता।

प्रश्न : गुण-विभाग से आप क्या समझते हैं? (3/28)

उत्तर : त्रिगुणात्मक माया के कार्यरूप पञ्च महाभूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर) और मन, बुद्धि, अहंकार तथा पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण), पञ्च कर्मेन्द्रियाँ (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध -ये इन्द्रियों के विषय; इन सबके समुदाय का नाम *'गुणविभाग'* है और इनकी पारस्परिक चेष्टाओं का नाम *'कर्म-विभाग'* है।

प्रश्न : मनुष्य के ज्ञान को किसने ढक रखा है? (3/38,39)

उत्तर : **धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।**
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्॥

जीवात्मा की शुद्ध चेतना को धूमिल करने वाला आवरण प्रगाढ़ता के अनुपात-भेद से तीन प्रकार का होता है - अग्नि में धूम, दर्पण पर मल और गर्भ को ढकने वाला गर्भाशय। इस प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग अनुपात में अभिव्यक्त होने वाला यह आवरण काम ही है।

यह मानव देह जीवात्मा के लिये भव-बन्धन से मोक्ष-प्राप्ति का अन्यतम अवसर है। इस मानव देह में ही सद्गुरु के आश्रय में कृष्ण भावना का सेवन करने से कामरूपी दुर्जेय शत्रु को विजित किया जा सकता है।

मनुष्य की शुद्ध चेतना उसके नित्य वैरी - इस काम से ढकी हुई है, जो सदा अतृप्त अग्नि के समान प्रचण्ड रहता है।

'मनुस्मृति' में उल्लेख है कि कितना भी विषय-भोग क्यों न किया जाय, पर काम की तृप्ति नहीं हो सकती - ठीक उसी प्रकार जैसे कि

निरन्तर ईंधन को डालते रहने से अग्नि को शान्त नहीं किया जा सकता है । प्राकृत सभ्यता द्वारा इन्द्रिय-तृप्ति के साधनों में उन्नति करने का अर्थ है - जीवात्मा के भवरोग की अवधि को बढ़ाना । इन्द्रिय-तृप्ति से तुच्छ सुखानुभूति तो हो सकती है, पर वास्तव में यह सुख व्यक्ति का परम शत्रु सिद्ध होता है ।

इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि - इस 'काम' के निवास हैं । इसके द्वारा यह जीवात्मा के यथार्थ ज्ञान को ढक कर मोहित करता है ।

प्रश्न : कामादि विकारों का निवास स्थान कहाँ है ? (3/40)

उत्तर : **इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।**
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।3/40।।

अर्थात् इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि - ये सब इसके वास स्थान कहे जाते हैं । यह काम इन् मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान को आच्छादित करके जीवात्मा को मोहित करता है ।

भाव यह है कि 'काम' मनुष्य के मन, बुद्धि और इन्द्रियों में प्रविष्ठ होकर उसकी विवेकशक्ति को नष्ट कर देता है और भोगों में सुख दिखलाकर उसे पापों में प्रवृत्त कर देता है; जिससे मनुष्य का अध:पतन हो जाता है । अत: कल्याण चाहने वाले मनुष्य को मन, बुद्धि और इन्द्रियों में से इस कामरूप वैरी को शीघ्र ही निकाल देना चाहिए, नहीं तो यह घर में घुसे हुए शत्रु की भाँति मनुष्य जीवन रूप अमूल्य धन को नष्ट कर देगा ।

प्रश्न : कामादि शत्रुओं को कैसे जीता जा सकता है ? (3/41 से 43)

उत्तर : भगवान् ने अर्जुन को 'गीता' के आरम्भ से ही इन्द्रिय-संयम करने का आदेश दिया है जिससे कि वह आत्म-जिज्ञासा एवम् आत्म-ज्ञान का विनाश करने वाले महापापमय शत्रु - "काम" का दमन करने में समर्थ हो जाये । इसी इन्द्रिय-संयम के द्वारा मानव कामादि शत्रुओं को जीत सकता है ।

इन्द्रियाँ काममयी क्रियाओं की द्वार हैं । काम का निवास देह के भीतर है । इन इन्द्रियों के द्वारा उसे बाहर मार्ग दिया जाता है इसलिये सम्पूर्ण देह की तुलना में इन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं । इन्द्रियों से मन बली है और बुद्धि मन से बलवती है । इन सबसे अति परे आत्मा है ।

अत: सर्वप्रथम इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए । इन्द्रिय-प्रतिरोध होने पर भी मन क्रियाशील रहता है, जैसे - स्वप्न में । इसलिये मन को प्रत्यक्ष रूप में भगवत् सेवामृत में अहर्निश निमज्जित रखना चाहिए । दिन रात प्रभु-चिन्तन, सेवा-परायण रहने से, उनकी ही ओर, उनके ही ध्यान में व्यक्ति लीन रहेगा, उसे तुच्छ इन्द्रियों के विषयों के चिन्तन का अवसर ही नहीं रहेगा ।

इस प्रकार बुद्धि की संकल्प-शक्ति से चित्त को वश में करके, इन्द्रिय-मन-बुद्धि से परे अपने दिव्य आत्मस्वरुप को जानकर, आत्मशक्ति से युक्त होकर मनुष्य काम रुपी इस कभी शान्त न होने वाले शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है।

जीवात्मा को केवल इतना करना है कि बुद्धि द्वारा अपने कर्त्तव्य कर्म की जिज्ञासा करे और चित्त को कृष्ण भावनामृत में निमज्जित रखे। इससे सम्पूर्ण समस्या का समाधान हो जायेगा। क्योंकि परमात्मा का साक्षात्कार होते ही रसबुद्धि निवृत्त हो जाती है। जैसा गीता के दूसरे अध्याय में वर्णित है -

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिन: ।
रसवर्ज रसोऽव्यस्य परं दृष्टा निवर्तते ।।2/59।।

अर्थात् परमात्मा का ज्ञान होने से रस अर्थात "काम" निवृत्त हो जाता है। कारण सुख के लिए कामना होती है और स्वरुप (परमात्मा रुप) सहज सुख राशि है। अत: परमात्मा का साक्षात्कार होने से भोग जन्य सुख की कामना रहती ही नहीं।

प्रश्न : भगवान के अवतार का उद्देश्य क्या है और यह कब होता है ? (4-7,8)

उत्तर : गीत के चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने स्वयं अपने मुखारविन्द से अपने अवतार के उद्देश्य व समय का वाचन किया है। भगवान् अर्जुन से कहते हैं -

यदा-यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।। 4-7 ।।

अर्थात् जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूप को रचता हूँ अर्थात् अवतार लेता हूँ।

तथा

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म-संस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ।। 4-8 ।।

अर्थात् साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये और दूषित कर्म करने वालों का विनाश करने के लिये तथा धर्म की स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ।

प्रश्न : गीता के अनुसार बुद्धिमान व्यक्ति किसे कहते हैं ? (4/18)

उत्तर :

कर्मण्यकर्म य: पश्येदकर्मणि च कर्म य: ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्त: कृत्स्नकर्मकृत ।।

अर्थात् जो पुरूष कर्म में अकर्म (आत्म ज्ञान) और अकर्म (ज्ञान) में कर्म देखे वह मनुष्यों में बुद्धिमान है और वही युक्त तथा सब कर्मों को करने वाला है। कहने का तात्पर्य यह है कि जो पुरूष कर्म में, अहंकार रहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओं में अकर्म यानि वास्तव में उनका न होनापन देखे और जो पुरुष अकर्म अर्थात् ज्ञानी पुरुषों द्वारा की गई सम्पूर्ण क्रियाओं में त्याग में भी कर्म को यानि त्यागरूप कर्म को देखे - वह मनुष्य सभी मनुष्यों में बुद्धिमान् है और वह योगी सम्पूर्ण कर्मों को करने वाला है।

इस प्रकार आत्मा के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान जिसके अन्तर्गत है वह बुद्धिमान है। समस्त शास्त्र के अभिप्राय को जानने वाला है। वह मनुष्यों में युक्त मोक्ष का अधिकारी है। वह सभी कर्मों को करने वाला और समस्त शास्त्राभिप्राय के अनुसार चलने वाला है।

प्रश्न : गीता में सबसे पवित्र वस्तु क्या बतायी गई है ? (4/38)

उत्तर : गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है -

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।।

अर्थात् इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है । उस ज्ञान को कितने काल से आप में समत्व बुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्तः करण हुआ पुरुष आत्मा में अनुभव करता है । उसे आत्मा में ही पा लेता है । (आत्म ज्ञान में ऐसी सामर्थ्य है) इसलिये आत्मज्ञान समस्त पापों का नाश कर देता है - इस अभिप्राय को जानकर, प्रतिदिन अनुष्ठान करने वाला साधक ज्ञानाकार कर्मयोग द्वारा संसिद्ध होकर उस ज्ञान को समय पर अपने आप ही आत्मा में पा लेता है ।

प्रश्न : गीता के अनुसार कर्म-संन्यास की अपेक्षा निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कीजिये ? (5/2 से 5)

उत्तर : गीता में कर्मसंन्यास एवं निष्काम कर्मयोग - इन दोनों शब्दों की भगवान ने स्वमुखारविन्द से सुन्दर व्याख्या की है । इसको समझने के लिये सर्वप्रथम कर्मसंन्यास एवं निष्कामं कर्मयोग - इन दोनों का शाब्दिक अर्थ समझना आवश्यक है ।

कर्म-संन्यास अर्थात् कर्म को त्यागना । कर्म-त्याग से तात्पर्य है ज्ञानमय संन्यास यानि इन्द्रियं-क्रिया के रूप में किये जाने वाले सब कर्मों का परित्याग करना । (पूर्ण ज्ञान से किया गया कर्म बन्धनकारी न होने से अकर्म-तुल्य ही है)

'सम' उपसर्ग पूर्वक 'न्यास' शब्द का अर्थ है सम्यक् प्रकार से त्याग । मन, वाणी और शरीर द्वारा होने वाली सम्पूर्ण क्रियाओं में कर्तापन के अभिमान और शरीर तथा समस्त संसार में अहंता-ममता का त्याग-पूर्णतया त्याग - ही 'कर्म-संन्यास' है । कृष्णभावनाभावितकर्म ही निष्काम कर्म या 'कर्मयोग' है।

'कर्म-संन्यास' और 'कर्मयोग' - दोनों ही परम कल्याणकारी हैं, दोनों का एक ही उद्देश्य है - यथार्थ ज्ञान के द्वारा परमात्मा को प्राप्त कराना; लेकिन कर्मयोग का मार्ग अधिक सरल है । कर्मयोगी कर्म करते हुए भी सदा संन्यासी ही है । वह सुखपूर्वक बिना प्रयास के ही संसार-बंधन से छूट जाता है । उसे शीघ्र ही परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है । प्रत्येक अवस्था में भगवान् उसकी रक्षा करते हैं । वस्तुतः कर्मयोग साधन भी है और निष्ठा (साध्य) भी । कर्मसंन्यास कर्मयोग के साधन बिना सिद्ध होना कठिन है ।

कर्म-संन्यास में कृष्णभावना का अभाव होता है । कृष्णार्पणभावना के अभाव में सकाम कर्मों का संन्यास मात्र बद्ध जीव के हृदय को यथार्थ रूप में स्वच्छ नहीं कर पाता । और जब तक हृदय-मार्जन नहीं हो जाता, तब तक सकाम कर्म बनते ही रहते हैं । कर्म-संन्यास में व्यक्ति को केवल कर्म करना है इसलिए भक्ति रहित वह साधक केवल कर्म का पालन करता रहता है । कर्म का वह त्याग नहीं करता, पर कर्म में भक्तियोग न होने से केवल कर्म-सन्यास द्वारा सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती । ऐसे साधक विभिन्न धर्मशास्त्रों व वेदान्त सूत्रों के अध्ययन तथा तर्क-वितर्क में ही लीन रहकर भ्रमित होते रहते हैं ।

बिना कर्मयोग के, ईश्वरार्पण बुद्धि के 'कर्म-संन्यास' अर्थात् मन, इन्द्रिय और शरीर द्वारा होने वाले सम्पूर्ण कार्यों में 'कर्तापन' का त्याग कर पाना कठिन है । इन्हीं कारणों से कर्म-संन्यास की अपेक्षा कर्मयोग को श्रेष्ठ बताया गया है ।

प्रश्न : कर्म करते हुए भी योगी कैसे शान्ति प्राप्त करता है ? (5/12)

उत्तर : **युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।**
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।

योगी अर्थात् कृष्णभावनाभावित पुरुष श्रीकृष्ण में आसक्त रहता है जबकि शरीरबद्ध व्यक्ति अपने कर्मों के फल में आसक्त रहता है । जो श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये ही कर्मफल की कामना नहीं है । योगी श्रीकृष्ण के प्रति सम्पूर्ण कर्मफल का अर्पण करके कर्म करता है अतः परमशान्ति को प्राप्त करता है, जबकि शरीरबद्ध व्यक्ति कर्मफल में आसक्त होता है, श्रीकृष्ण से युक्त नहीं रहता है । इन्द्रिय-तृप्ति के लिये फल का अभिलाषी होने से वह शान्ति को नहीं प्राप्त होता है ।

योगी का रहस्य है - श्रीकृष्ण से सम्बन्ध रहित कुछ भी सत्ता नहीं है - इस अनुभूति से परमशान्ति और अभय पद की प्राप्ति करना ।

प्रश्न : अक्षय आनन्द की प्राप्ति का साधन बताइये ? (5/21 से 23)

उत्तर : सच्चिदानन्द परमात्मा ही अक्षय आनन्द का मूल स्रोत है । इस अक्षय आनन्द को प्राप्त करने के लिये इच्छुक व्यक्ति सभी इन्द्रियों को उनके बाह्य विषयों से हटाकर, अन्तःकरण में स्थित परमात्मा के नित्य और सतत ध्यान से उत्पन्न आनन्द को पाता है । विषयों से इन्द्रियों को विरत करके ही ध्यानजनित सुख पाया जा सकता है । यह सुख परमात्मा की साक्षात् प्राप्ति का साधन है ।

इस ध्यानजनित सुख की किसी से तुलना नहीं की जा सकती । सांसारिक भोगों में जिस सुख का अनुभव होता है, वह क्षणिक और नगण्य है । स्वप्न अथवा बिजली की चमक के समान इन्द्रियों के भोग अनित्य और क्षणभंगुर हैं। सदा एक रस रहने वाला परमानन्द स्वरूप अविनाशी परमात्मा ही 'अक्षय आनन्द' है । इस मानव शरीर के नष्ट होने से पहले जो काम, क्रोधादि विकारों को सहने में समर्थ हो जाता है - वही व्यक्ति अक्षय-आनन्दधन परमात्मा को प्राप्त कर सुखी होता है ।

प्रश्न : आत्मानुभव रूप सुख की प्राप्ति किसे होती है ? (5/24)

उत्तर : योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
न योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।

जो अन्तरात्मा में सुख वाला, अन्तरामा में ही रमण करने वाला और अन्तरात्मा में ज्योतिवाला है - वह ब्रह्मस्वरूप योगी आत्मानुभव रूप सुख को प्राप्त होता है

दूसरे शब्दों में, जो समस्त बाह्य विषयों के अनुभवों को छोड़कर अन्तः सुख वाला, एकमात्र आत्मा के ही अधीन है, आत्मा ही अपने गुणों से जिसके सुख को बढ़ाने वाला है तथा जो अन्तर्ज्योति है - केवल आत्मा के ही ज्ञान से युक्त है ऐसा वह ब्रह्मभूत योगी - ब्रह्मनिर्वाण को अर्थात् आत्मानुभव रूप सुख को प्राप्त होता है ।

प्रश्न : ब्रह्म-निर्वाण को कौन प्राप्त होता है ? (5/25,26)

उत्तर : जो छिन्नद्वैध है अर्थात् शीतोष्णादि द्वन्द्वों से बिलकुल टूटे हुए हैं, यतात्मा है (आत्मा में ही मन को नियन्त्रित रखने वाले हैं) तथा सब भूतों के हित में रत हैं - अपनी ही भाँति समस्त भूत-प्राणियों के हितों में लगे हैं और ऋषि हैं - आत्मसाक्षात्कार परायण प्रत्यक्ष द्रष्टा हैं ऐसे वे पुरूष, आत्म प्राप्ति के विरोधी समस्त पापों का पूर्णतया क्षय कर देने वाले पुरुष ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करते हैं -

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतिहिते रताः ।। 5-25 ।।

काम-क्रोध से रहित, यत्नशील, संयमितचित्त वाले, विजितात ा, परब्रह्म का साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरूषों के लिये सब ओर से ए न्त परब्रह्म परमात्मा ही (अर्थात् ब्रह्म-निर्वाण ही) प्राप्त रहता है -

काम क्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।। 5-26 ।।

प्रश्न : संन्यासी और योगी के क्या लक्षण हैं ? (6/1)

उत्तर : **अनाश्रित: कर्मफलं कार्यं कर्म करोति य: ।**
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रिय: ।।

जो पुरूष कर्मफल में अनासक्त रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता है, वही सच्चा संन्यासी और योगी है, अग्नि को त्यागने वाला या कर्म को त्यागने वाला नहीं ।

कुछ संन्यासी मिथ्या रूप से अपने को सम्पूर्ण लौकिक कर्त्तव्यों से मुक्त हुआ मानकर अग्निहोत्र को त्याग देते हैं । परन्तु वास्तव में वे स्वार्थी हैं, क्योंकि उनका लक्ष्य निराकर ब्रह्म से साजुज्य प्राप्त करना है । प्राकृत कामनाओं से ऊपर होने पर भी यह इच्छा स्वार्थ प्रेरित ही है ।

इसी प्रकार सम्पूर्ण प्राकृत क्रियाओं को त्याग कर अर्धमीलित नेत्रों से योगाभ्यास करने वाला भी स्वार्थ तृप्ति से प्रेरित है ।

कृष्ण-भावना-भावित भक्त ही एकमात्र ऐसा प्राणी है जो परमेश्वर की प्रीति के लिये नि:स्वार्थ भाव से कर्म करता है । अत: उसमें स्वार्थ भाव की गन्ध तक नहीं रहती । श्रीकृष्ण के सन्तोष में ही वह अपनी सफलता मानता है । इसलिये वह एकमात्र पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी है ।

प्रश्न : आत्मा का बन्धु और शत्रु कौन है ? (6/5,6)

उत्तर : **उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।**
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन; ।। 6-5 ।।

आत्मा का बन्धु और शत्रु 'मन' है । मन ही मनुष्य के बन्धन व मोक्ष का कारण है । इन्द्रिय-विषयों में डूबा मन बन्धनकारी है और विषयों में अनासक्त होने पर भी वही मन मुक्ति का हेतु है । अत: निरन्तर कृष्ण भावनामृत में तन्मय मन परम मोक्ष का कारण सिद्ध होता है -

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो: ।
बन्धाय विषयासङ्गो मुक्त्यै निर्विषयं मन: ।।

मनुष्य को अपने मन के द्वारा अपना उद्धार करना चाहिए, अपने को दुर्गति में नहीं पहुँचाना चाहिए, क्योंकि मन ही बद्ध जीवन का मित्र है और मन ही उसका शत्रु है ।

मन को इस प्रकार शिक्षा देनी चाहिए कि माया की मिथ्या चमक-दमक की ओर आकृष्ट न हो और बद्ध जीव का उद्धार हो सके । इन्द्रियों में आसक्त होकर अपना अध:पतन नहीं करना चाहिए । विषयों में जितना अधिक आकर्षण होगा उतना ही संसार अधिक बंधनकारी होगा । मोक्ष का सर्वोत्तम पथ ही चित्त से निरन्तर कृष्ण-भावनामृत में निमग्न रहना - भगवान् ने बताया है ।

अत: जिसने मन को वश में कर लिया उसके लिये मन सर्वश्रेष्ठ बन्धु है, जिसने मन को वश में नहीं किया है, उसका मन ही परम शत्रु है -

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित: ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।। 6-6 ।।

प्रश्न : गीता के अनुसार अभ्यास और वैराग्य क्या है, जिससे मन को वश में रखा जा सकता है ? (6/35 से 37)

उत्तर : मन को वश में किये बिना कुछ भी प्राप्त होना असम्भव है । मन अत्यन्त चंचल और कठिनाई से वश में रहने वाला है, लेकिन अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन को वश में किया जा सकता है -

असशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।। 6-35 ।।

'अभ्यास' का अर्थ है मन को किसी अभीष्ट लक्ष्य की ओर उन्मुख करके, अन्य विषयों से ध्यान हटाकर उसी विषय में बार-बार लगाने का प्रयास करना। परमात्मा सर्वशक्तिमान्, अविनाशी और सर्वेश्वर है । वह जीवन का चरम लक्ष्य है - ऐसी दृढ़ धारणा बनाकर चित्त को परमात्मा में लगाने का अभ्यास करना चाहिए । इस संसार और परलोक के सम्पूर्ण पदार्थों में से जब आसक्ति पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती है, तब उसे 'वैराग्य' कहते हैं । अभ्यास और वैराग्य दोनों ही मन को वश में रखने के लिये आवश्यक है । अभ्यास से वैराग्य बढ़ता है और वैराग्य से अभ्यास की वृद्धि होती है । अभ्यास मन रूपी नदी की धारा को भगवान् की ओर ले जानें वाला सुन्दर मार्ग है तथा वैराग्य मन की भोगों की ओर दौड़ने वाली गति को रोकने के लिये बाँध के समान है। इन दोनों साधनों से मन को वश में करने वाला साधक योग को प्राप्त कर सकता है ।

प्रश्न : भगवान् के भक्त कितने प्रकार के होते हैं ? (7/16)

उत्तर : भगवान् के भक्त चार प्रकार के होते हैं - आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी -

चतुर्विधा भजन्ते मां जना: सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।

प्रश्न : योगी के चित्त की स्थिति कैसी होती है ? (6/19)

उत्तर : जिस प्रकार वायुरहित स्थान में स्थित दीपक चलायमान नहीं होता, वैसी ही उपमा परमात्मा के ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की होती है -

यथा दीपो निवातस्थ: नेङ्गते सोपमा स्मृता ।
योगिनों यतचित्तस्य युञ्जतो योमात्मन: ।।6/19

प्रश्न : मन को वश में कैसे किया जा सकता है ? (6/35)

उत्तर :

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तैय वैराग्येण च गृह्यते ।।

भगवान् कहते हैं हे अर्जुन ! निश्चय ही यह मम चंचल और कठिनता से वश में आने वाला है परन्तु हे कौन्तेय ! यह अंभ्यास और वैराग्य से वश मं आ जाता है ।

प्रश्न : ईश्वर किसका योगक्षेम वहन करता है ? (अथवा)
निष्काम उपासना का क्या फल है ? (अथवा)
योग एवं क्षेम शब्द का क्या अर्थ है ? (9/22)

उत्तर : ईश्वर किसका योगक्षेम वहन करता है - इसे जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि 'योग' और 'क्षेम' क्या है ?

भगवत् स्वरुप की प्राप्ति का नाम योग है अर्थात् भगवान का संग प्राप्त कर लेने की अभिलाषा का नाम योग है ।

'क्षेम' का अर्थ है भगवत् - प्राप्ति के निमित्त हुए साधन की रक्षा या भगवान् का कृपामय संरक्षण ।

भगवान् योग द्वारा कृष्णभावना की प्राप्ति में भक्त की सहायता करते हैं और उसके पूर्ण कृष्णभावनाभावित हो जाने पर दु:खमय बंद्ध जीवन में फिर गिरने से वे ही उसकी रक्षा भीं करते हैं ।

जो मनुष्य अनन्य भाव से श्रीकृष्ण में स्थर हुआ, श्रीकृष्ण का ही निरन्तर चिन्तन करता हुआ, निष्काम भाव से ईश्वर को भजता है - ऐसे नित्य, एकीभाव से श्रीकृष्ण में स्थिति वाले पुरुषों का भगवान् योग-क्षेम स्वयं स्वीकार करता है अर्थात् योग-क्षेम स्वयं वहन करता है -

अनन्याश्चिन्तयन्तों मां ये जना: पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।

(अध्याय 2 के श्लोक 45 में योग-क्षेम के विषय में इस प्रकार कहा गया है - "**अप्राप्तस्य प्राप्ति: योग:, प्राप्तस्य परिरक्षणं क्षेम**' अर्थात् अप्राप्त की प्राप्ति का नाम योग और प्राप्त वस्तु की रक्षा का नाम क्षेम है) ।

प्रश्न : ईश्वर किन वस्तुओं की भेंट स्वीकार करता है ? (9/26)

उत्तर : भगवान् स्वयम् अर्जुन से कहते हैं -

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतभश्नामि प्रयतात्मन: ।। 9-26 ।।

अर्थात् जो कोई भक्त मुझे प्रीति राहित पत्र. पुष्प. फल. जल इत्यादि अर्पण करता है, उस शुद्धवुद्धि. निष्काम प्रेमी भक्त का प्रेमपूर्वक अर्पण किया हुआ वह पत्र-पुष्पादिक मैं सगुणरूप से प्रकट होकर प्रीतिसहित खाता हूँ।

प्रश्न : ईश्वर की उपासना कैसे करनी चाहिए ? (अथवा) वह श्लोक लिखिये, जिसमें अर्जुन ने अनन्तरूप परमेश्वर की स्तुति और बारम्बार नमस्कार किया है ? (11/38 एवं 39)

उत्तर : अर्जुन ने निम्नलिखित श्लोकों में अनन्तरूप परमेश्वर की स्तुति करते हुए बारम्बार उन्हें प्रणाम किया है -

त्वमादिदेव: पुरुष: पुराण:
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्त रूप ।। 38 ।।
वायुर्यमोऽग्निवरुण: शशाङ्क:
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व:
पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ।। 39 ।।

प्रश्न : गीता का वह श्लोक लिखिये जिसमें परमात्मा को आदिदेव, पुराण पुरुष........ आदि कहा गया है ? (11वाँ अध्याय)

उत्तर : **त्वमादिदेव: पुरुष: पुराण:**
त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।
वेत्तासि वेद्यं च परं च धाम
त्वया ततं विश्वमनन्त रूप ।। 38 ।।
वायुर्यमोऽग्निवेरुण: शशाङ्क:
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्व:
पुनश्य भूयोऽपि नमो नमस्ते ।। 39 ।।

प्रश्न : अपराध के लिये अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जो क्षमा-प्रार्थना की है, उसे अपने शब्दों में लिखिये ? (11/41 से 44)

उत्तर : भगवान् के विश्वरूप दर्शन से अर्जुन आश्चर्यचकित हो गया। ऐसे में श्रीकृष्ण को श्रद्धाभाव से बारम्बार प्रणाम करता हुआ, सखा के स्थान पर रोमांचित भक्त के रूप में करबद्ध होकर प्रार्थना करने लगा।

सखा श्रीकृष्ण के लिये भक्तिभाव की अतिशयता के कारण अर्जुन उन्हें सब ओर से प्रणाम करते हैं। वह मानते हैं कि वे अर्थात् श्रीकृष्ण सम्पूर्ण शक्तियों के स्वामी हैं तथा युद्ध भूमि में स्थित सभी महारथियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ हैं।

नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामित विक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ।।

अर्जुन कहता है है अचिन्त्य प्रभावप्रभु आपकी इस महिमा को न जानते हुए सखाभाव के कारण - आपको प्रेम अथवा प्रमाद से हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे ! इस प्रकार से जो सम्बोधित किया है, आप उन सभी मित्रोचित परिहासों को क्षमा कर दें।

श्रीकृष्ण इतने अतिशय कृपामय एवं दयालु हैं कि इतने ऐश्वर्य से नित्ययुक्त होने पर भी अर्जुन के साथ मित्रोचित क्रीड़ा ही करते रहे। भक्त और भगवान् में परस्पर होने वाले चिन्मय प्रेम रस के आदान-प्रदान की ऐसी दिव्य महिमा है।

अर्जुन कहता हे विष्णु ! जिस प्रकार पुत्र के लिये पिता पूज्य होता है वैसे ही आप सम्पूर्ण जगत् के आराध्य है, आप जगद् गुरू हैं। हे अनन्त प्रभावपूर्ण! हे अनन्त महिमामय ! प्राकृत-अप्राकृत दोनों सृष्टियों में दूसरा कोई भी (श्रीकृष्ण) आपके समान अथवा उनसे अधिक नहीं है। सभी आपसे कम हैं। आपकी समता कोई नहीं कर सकता है। आप प्राणि मात्र के आराध्य परमेश्वर हैं। इसलिये हे स्वामी ! मैं आपके चरणों में गिरकर आपकी कृपा हेतु याचना करता हूँ। मेरे अपराधों को क्षमा करके मुझ पर उसी प्रकार प्रसन्न हो जाइये जैसे पिता अपने पुत्र के, सखा-सखा के और प्रेमी अपने प्रियतम के अपराध को सहन करता है।

अर्जुन पुनः कहता है है स्वामी ! पहले न देखे हुए आपके इस अद्भूत विश्वरूप के दर्शन से मैं हर्षित हो रहा हूँ पर मेरा चित्त भय से आकुल भी हो रहा है। इसलिये हे देवेश ! हे जगन्निवास ! मुझ पर प्रसन्न होकर अपने उसी चतुर्भुज रूप को प्रकट कीजिये।

प्रश्न : निराकर की उपासना कठिन क्यों हैं ? 12/5

उत्तर : क्लोशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवीद्भखाप्यंते ।।12/5।।

'निराकार' की उपासना कठिन इसलिये है क्योंकि निराकारवादियों के लिये

उपनिषद् आदि वैदिक शास्त्रों से 'परम सत्य' के निराकार स्वरूप को समझना आवश्यक है । साथ ही इन्द्रियों से अतीत भावों और इन सभी पद्धतियों की अनुभूति की भी अपेक्षा है । साधारण मनुष्य के लिये यह सब समझना सरल नहीं है । निराकारवादियों का पथ क्लेशमय है ।

दूसरी ओर भक्तियोग परायण, कृष्णभावनाभावित पुरुष प्रामाणिक गुरु का आश्रय ग्रहण करने, अर्चा-विग्रह की वन्दना करने, भगवत् गुण-श्रवण तथा भगवत्प्रसाद स्वीकार करने मात्र से सुगमतापूर्वक भगवान् को प्राप्त हो जाता है । नि:स्सन्देह निराकारवादी व्यर्थ में एक ऐसे कष्टसाध्य मार्ग को अंगीकार कर लेता है, जिससे अन्त में भी 'परमसत्य' की प्राप्ति होगी ही - यह निश्चित नहीं है: जबकि भक्तजन किसी भी क्लेश संकट और कठिनाई के बिना सीधे-सीधे भगवान को प्राप्त हो जाते हैं ।

'श्रीमद्भागवत' में भी एक ऐसा श्लोक है, जिसके अनुसार अन्त में श्रीभगवान् की शरण लेना जीवमात्र के लिये आवश्यक है । इस शरणागति का नाम ही भक्ति है, पर यदि कोई सम्पूर्ण जीवन 'यह ब्रह्म है, यह ब्रह्म नहीं है - इस प्रकार मीमांसा करने में ही व्यतीत कर दे, तो परिणाम में क्लेश ही क्लेश हाथ लगेगा ।

प्रश्न : कैसा भक्त भगवान को प्रिय है ? अथवा भक्त के क्या लक्षण हैं ? (12-13 से 20 और 9/26)

उत्तर : भगवत्प्राप्त ज्ञानी भक्तों के लक्षण बताते हुए भगवान्र कहते हैं -

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्र: करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकार: समदु:ख सुख: क्षमी ।। 12/13 ।।
सन्तुष्ट: सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चय: ।
मय्यर्पित मनोबुद्धिर्यो मद्भक्त: स मे प्रिय: ।। 12-14 ।।

अर्थात् जो पुरूष सब भूतों में द्वेष भाव से रहित, स्वार्थ रहित, सबका प्रेम, हेतु रहित दयालु, ममता से रंहित अहंकार से रहित, सुख-दु:खों की प्राप्ति में समभाव और क्षमावान् है, जो योगी निरन्तर सन्तुष्ट है, मन-इन्द्रियों सहित शरीर को वश में किये हुए मन-बुद्धि वाला है - ऐसा मेरा भक्त मुझे प्रिय है ।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च य: ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो य: स च मे प्रिय: ।। 12-15 ।।
अनपेक्ष: शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथ: ।
सर्वारम्भ परित्यागी यो मद्भक्त: स मे प्रिय: ।। 12-16 ।।

योन हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभ परित्यागी भक्तिमान्य: स मे प्रिय: ।। 12-17 ।।
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुखदु:खेषु समः संङ्गविवर्जित: ।। 12-18 ।।
तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेत: स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नर; ।। 12-19 ।।
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रिय: ।। 12-20 ।।

इसके अतिरिक्त अध्याय 9 के 26वें श्लोक में भी भगवान् ने प्रकाशन्तर से भक्त का ही लक्षण बताया है -

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्याप्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।।

प्रश्न : भक्ति के साधन में भोगों के त्याग से क्या तात्पर्य है/ (12-17)

उत्तर : भगवान् के प्रति अहैतुक और अनन्य प्रेम करना, भगवान् के स्वरूप में अटल स्थिति अर्थात् भगवान् से होना, जीवन-धन-प्राण एवं सर्वस्व भगवान् को ही समझना, स्वयं को भगवान् के ही हाथ की कठपुतली मानना - यही भक्ति का चरम आदर्श है । इस अनन्य भक्ति की प्राप्ति तभी सम्भव है जबकि सांसारिक भोगों के त्याग की प्रवृत्ति हो । भक्ति के साधनों में भागों के त्याग का यही तात्पर्य है कि कृष्णभावना भावित होकर कर्म करना । सब कुछ कृष्णार्पण करके सुख-दु:ख, लाभ-हानि, जय-पराजय इत्यादि में समभाव से रहने पर भोगों के प्रति अनासक्ति की भावना सहज उत्पन्न हो सकती है । जब भक्ति की चरम सीमा पर पहुँचने की अभिलाषा होती है तब भोगों का त्याग परमावश्यक हो जाता है । जल में कमलवत् जब भोग करते हुए भी उनके खो जाने या विनष्ट हो जने की स्थिति में शोक अथवा कष्ट का अनुभव नहीं होता, बल्कि ईश्वरेच्छा मानकर भगवान् के प्रति अनन्यता बढ़ती जाती है तब भक्ति का उंदय होता है । अपनी अन्तरात्मा से परमसत्ता का निरन्तर चिन्तन करने वाला भक्त जब सांसारिक सुखों से सम्बद्ध कर्मों और तत्सम्बन्धी फलों का रंचमात्र भी चिन्तन नहीं करता तब ऐसी स्थिति भोगों के त्याग की होती है।

प्रश्न :. श्रीमद्भगवतगीता में ज्ञान के 20 साधन बताये गये हैं । इनमें से 10 साधनों का वर्णन कीजिये । (13/7,11)

उत्तर : गीता में वर्णित ज्ञान के 20 साधन इस प्रकार हैं : (1) अमानित्वम्, (2) अदम्भित्वम् (3) अहिंसा (4) क्षान्ति (5) आर्जवम् (6) आचार्य-उपासनम्, (7) शौचम् (8)

स्थैर्यम् (9) आत्म निग्रह; (10) इन्द्रिय-अर्थेषु वैराग्यम् (11) अनहङ्कार (12) जन्म-मृत्यु जरा-व्याधि आदि में दु:ख-दोषों का अनुदर्शन अर्थात् बारम्बार चिन्तन करना (13) असत्ति (आसक्ति का अभाव). (14) अनभिष्वङ्ग (15) पुत्र-दारा-घर आदि में नित्य मन की समता अर्थात्हर्ष-विकार आदि क न होना (16) इष्ट-अनिष्ट की उपपत्ति में कृष्ण में शुद्धभाव से भक्ति, (17) अव्यभिचारी (निरन्तर शुद्ध और अनन्य भक्तियोग का अपचरण (18) विविक्त (एकान्तवास0 (19) अनासक्ति अर्थात् विषयी जनसमुदाय में प्रीति का अभाव तथा (20) अध्यात्मज्ञान अर्थात् स्वरूप-साक्षात्कार में नित्य दढ़निष्ठा और परमतत्त्व का दार्शनिक अन्वेषण - इन सबको भगवान् ज्ञान-साधन घोषित करते हैं। इनमें से 10 साधनों का विवेचन निम्नलिखित है -

1. **अमानितवम्** (विनम्रता) अर्थात् दूसरे हमारा सत्कार करें - ऐसी अपेक्षा न रखना। देहात्म बुद्धि के कारण हम दूसरों से सम्मान प्राप्ति के लिये बड़े आतुर रहते हैं, किन्तु देह से भिन्न अपने स्वरूप को पूर्ण रूप से जानने वाले की दृष्टि में देह से सम्बन्धित मान-अपमान निरर्थक होता हैं

2. **अहिंसा** - किसी भी जीव को किसी प्रकार से पीड़ित न करना।

3. **क्षान्ति** का तात्पर्य है दूसरें के तिरस्कार और अपमान को सहने का अभ्यास करना, क्योंकि अध्यात्म ज्ञान का सेवन करने से दूसरों से प्राय: अपमानित होना पड़ता है; पर हमें सहिष्णुता और धैर्य पूर्वक भक्ति में निष्ठ रहते हुए पारमर्थिक उन्नति करते रहना चाहिए। जैसे - प्रह्लाद ने हर कुंछ सहन किया।

4. मन-वाणी की सरतला **आर्जवम्** है। भाव यह है कि व्यवहार कुटिलता से रहित इतना सरल होना चाहिए कि शत्रु पर भी सत्य प्रकट किया जा सके।

5. **शौच** - पारमार्थिक साधना के लिये शरीर के बाहर-भीतर की शुद्धि आवश्यक है। बाह्य शुद्धि स्नानादि से होती है परन्तु भीतर की शुद्धि के लिये नित्य श्रीकृष्ण का चिन्तन ओर भगवत् नाम स्मरण "हरे राम हरे कृष्ण" महामन्त्र का कीर्तन आवश्यक है।

6. **स्थैर्यम्** - भवगत् प्राप्ति के दृढ़ निश्चय का नाम स्थैर्यम् अथवा स्थिर भाव है।

7. आत्मविनिग्रह: (संयम) - का भाव यह है कि ऐसा कोई पदार्थ ग्रहण न करे जो भगवत् प्राप्ति के पथ में उन्नति के प्रतिकूल हो।

8. जन्म, मृत्यु जरा और व्याधि आदि दु:खों के दोषोंके विषय में विचार करना चाहिए, क्योंकि जब तक मनुष्य इन सबसे प्राप्त दु:खों के विषय में विचार कर

विषय परायण जीवन से निराश नहीं हो जाता, तब तक पारमार्थिक उन्नति का पथ प्रशस्त नहीं हो सकता ।

9. अनभिष्वङ - इसका तात्पर्य है पुत्र, स्त्री ओर घर आदि में अनासक्ति ।

10. परम तत्व, परम सत्य का दार्शनिक अन्वेषण करना चाहिए । भगवान् परम सत्य की अनुभूति के शिखर हैं, अतएव श्रीभगवान् के तत्त्व को समझ कर उनकी भक्ति के परायण हो जाना चाहिए । ज्ञान की पूर्णता इसी में हैं ।

प्रश्न : गीता में ईश्वर प्राप्ति के कौन से मार्ग बताये गये हैं ? (13/24)

उत्तर : गीता में ईश्वर प्राप्ति के मार्ग के विषय में इस प्रकार बताया गया है -

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।।

अर्थात् उस परमात्मा को कितने ही मनुष्य विशुद्ध चित्त से ध्यान करते हुए हृदय में देखते हैं - भक्तियोग द्वारा ईश्वर को प्राप्त करते हैं । दूसरे जो सिंद्ध योगी नहीं है वे सांख्य योग अर्थात् ज्ञानयोग के द्वारा मन को योग के योग्य बनाकर आत्मा का दर्शन करते हैं । अन्य जो आत्मदर्शन के साधन रूप योग आदि के अधिकारी हैं अथवा जो महत्ता के नाते संसार में प्रसिद्ध हैं -जो लोग ज्ञान जिसके अन्दर हैं ऐसे कर्मयोग द्वारा योग की योग्यता प्राप्त करके मन में आत्मा को देखते हैं ।

कुछ ऐसे भी हैं जो तत्त्वज्ञानियों से सुनकर उपासना करते हैं और ईश्वर की प्राप्ति करते हैं ।

प्रश्न : गुण कितने प्रकार के होते हैं ? उनकी दृष्टि से मानव जीवन में कौन से लक्षण प्रकट होते हैं ? (14/5 से 8,17)

उत्तर : प्रकृति से उत्पन्न सत्त्व, रजस् ,व तमस् - ये गुण अव्यय आत्मा को देह में बाँध लेते हैं । इन तीनों गुणों से बद्ध आत्मा वाले शरीर में तीनों के पृथक पृथक उद्‌भव से मनुष्य में अलग-अलग गुण लक्षण प्रकट होते हैं । 'सत्त्व गुण' निर्मल होने कारण प्रकाशक व रोग रहित है । यह गुण-जीव को सुख की आसक्ति से और ज्ञान की आसक्ति से आत्मा को बाँधता है । 'रजोगुण' रागात्मक और तृष्णा तथा संग को उत्पन्न करता है । वह जीवात्मा को कर्म के संग से बाँधता है । 'तमोगुण' अज्ञानजन्य तथा जीवों को मोहित करने वाला है । इसकी उत्पत्ति से जीव में प्रमाद (कर्त्तव्य-अकर्तव्य में प्रवृत्त करने वाला असावधानी), आलस्य, निद्रा आदि के अवगुण उत्पन्न होते हैं ।

प्रश्न : गुणातीत की क्या पहचान है ? (14/24,25)

उत्तर : मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो: ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीत: स उच्यते ।। 14-25 ।।
समदु:खसुख: स्वस्थ: समलोष्टाश्मकाञ्चन: ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुति: ।। 14-24 ।।

अर्थात् गुणातीत पुरुष न तो किसी से द्वेष करता है, न किसी वस्तु की इच्छा करता है। विषयी मनुष्य ही देह को प्राप्त होने वाले तथाकथित मान-अपमान से प्रभावित हुआ करते है, परन्तु गुणातीत पुरुष पर तो इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता है। वह कृष्ण भावना सम्बन्धी स्वर्धम के आचरण में तत्पर रहता है, दूसरों से मिलने वाले मान-अपमान की चिन्ता नहीं करता है। कृष्ण भावना विषयक स्वधर्म के अनुकूल सब वस्तुओं को स्वीकार करता है। अन्यथा मिट्टी, पत्थर, स्वर्ण आदि किसी लौकिक पदार्थ से उसे कोई प्रयोजन नहीं।

जो पुरुष कृष्ण भावना के आचरण में.उससे सहयोग करें, उसे वह अपना प्रिय मित्र मानता है, वैसे जो उससे शत्रुता करता है वह उससे भी द्वेष नहीं करता है। उसकी स्थिति रामता में है, वह सब कुछ समभाव से देखता है, क्योंकि वह भली-भाँति जानता है कि संसार से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वह सामाजिक और राजनीतिक विषयों से प्रभावित नहीं होता, वह जानता है कि ये सब उथल-पुथल और उत्पात तुच्छ तथा क्षणिक हैं। अपने लिये वह कोई कर्म नहीं कर करता, पर श्रीकृष्ण के लिये नि:संकोच कुछ भी कर सकता है।

प्रश्न अन्न कितने प्रकार के होते हैं ? (15/14)

उत्तर भगवान् कहते हैं कि मैं प्राणियों के देह में रहने वाला वैश्वानर होकर और प्राण -अपान के साथ युक्त होकर चार प्रकार के भोजन को पचाता हूँ। प्राणियों के द्वारा खाये गये खाद्य, चोष्य, लेह्य और पेय - इस चार प्रकार के भोजन को ईश्वर पचाता है --

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रित: ।
प्राणापानसमायुक्त: पचाम्यन्नं चतुर्विधम् ।।15-14।।

प्रश्न दैवी सम्पदा प्राप्त पुरुषों के लक्षण लिखिये ? (15/1 से 3)

उत्तर अभयं सत्वसंशुद्धिर्ज्ञान योग व्यवस्थिति: ।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ।। 16-1 ।।

अभयम् अर्थात् सर्वथा भय का अभाव, अन्त:करण की अच्छी प्रकार से स्वच्छता (ज्ञानयोगव्यवस्थिति:) तत्त्वज्ञान के लिये ध्यानयोग में निरन्तर दृढ़ स्थिति तथा सात्विक ज्ञान, इन्द्रियों का दमन, यज्ञ अर्थात् भगवतपूजा और अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों का आचरण एवं स्वाध्याय अर्थात् वेदशास्त्रों के पठन-पाठन पूर्वक भगवान् के नाम व गुणों का कीर्तन तथा स्वधर्मपालन के लिये कष्ट सहन करना तथा शरीर एवम् इन्द्रियों सहित अन्त:करण की सरलता ।

अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग: शान्तिरपैशुनम् ।
दया भूतेष्व लोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ।। 16-2 ।।

अर्थात् अहिंसा, सत्य, अक्रोध, कर्मों में कर्तापन के अभिमान का त्याग, शान्ति अर्थात् चित्त की चंचलता का अभाव, अपैशुनम् - किसी की भी निन्दा न करना, सभी प्राणियों में हेतुरहित दया, इन्द्रियों का विषयों के साथ संयोग होने पर भी आसक्ति का न होना अलोलुप्त्वम् है तथा कोमलता, ह्री, लोक व शास्त्र के विरूद्ध आचरण करने में लज्जा और व्यर्थ चेष्टाओं का अभाव ।

तेज: क्षमा धृति शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ।। 16-3 ।।

प्रश्न : **आसुरी सम्पदा किसे कहते हैं ? (16/4,5)**

उत्तर : **दम्भोदर्पोऽभिमानश्च क्रोध: पारूष्यमेव च ।**
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदासुरीम् ।। 16 ।।

अर्थात् हे अर्जुन ! दम्भ, पाखण्ड और अभिमान तथा क्रोध कठोरता और अज्ञान भी - ये सभी आसुरीसम्पदा को लेकर उत्पन्न हुए पुरूष के लक्षण हैं ।

प्रश्न : **गीता में नरक के कौन-कौन से द्वार माने गये हैं ?**

उत्तर : **त्रिविधं नरकस्येतद् द्वारं नाशनमात्मन: ।**
काम: क्रोध: तथा लोभस्तस्मादेतत्रयम् त्यजेत् ।।16/21।।

प्रश्न : **सात्विक व्यक्ति को कैसा आहार प्रिय है ? अथवा सात्विक आहार किये कहते हैं ? (17/8)**

उत्तर : **आयु: सत्त्वबलारोग्यसुख प्रीतिविवर्धनां : ।**
रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विकप्रिया: ।।17/8।।

अर्थात् बुद्धि, बल, आरोग्य सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले एवं रसयुक्त चिकने, स्थिर रहने वाले (जिस भोजन का सार शरीर में बहुत काल तक रहता है, उसको स्थिर रहने वाला भोजन कहते हैं) तथा स्वभाव से मन में आहार ज्ञान को बढ़ाने वाला होता है । सात्विक आहार भोज्य पदार्थ बल और निरोगता को एवं सुख तथा प्रसन्नता को भी बढ़ाने वाले होते हैं ।

प्रश्न : **कैसा यज्ञ सात्विक है ? (17/11)**

उत्तर : **अफव्ताकाडिक्षमभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।**
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्विकः ।।

यज्ञों में वह यज्ञ सात्विक है जो शास्त्र-विधि के अनुसार फल इच्छा बिना कर्त्तव्य मानकर किया जाता है ।

सामान्यतः यज्ञ किसी न किसी स्वार्थभावना से प्रेरित होकर ही किये जाते हैं । किन्तु यह उल्लेख है कि यज्ञ को निष्कामभाव से कर्त्तव्य समझकर करना चाहिए । इस सन्दर्भ में मन्दिरों के कर्मकाण्ड का दृष्टान्त दिया जा सकता है । सामान्य रूप से ये किसी लौकिक लाभ के लिये किये जाते हैं, पर ऐसा करना सात्विक यज्ञ नहीं है । मनुष्य कर्त्तव्य समझकर मन्दिर जाये, भगवान् की वन्दना करे । पुष्प-नैवेद्य अर्पण करे । निष्काम भाव से भगवद्विग्रह की वन्दना करने के लिये मन्दिर जाना चाहिए । यही सात्विक 'अर्चना' है । लाभ मात्र से रहित किया गया यज्ञ सात्विक होता है ।

प्रश्न : **गीता में शरीर का तप किसे कहा गया है ? वाणी के तप के लिये कौन-कौन सी बाते आवश्यक है ? मानसिक तप की क्या परिभाषा है ? (17/14 से 16)**

उत्तर : स्वधर्म के आचरण सें इन्द्रियों को तपाकर शुद्ध करने का नाम "तप" है । तप त्रिविध है - शारीरिक, वाचिक और मानसिक ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ।। 17-14 ।।

अर्थात् देव, ब्राह्मण, गुरू व ज्ञान का पूजन, शौच, आर्जव, ब्रह्मचर्य व अहिंसा - यह शारीरिक तप कहलता है ।

वाचिक तप के लिये दूसरों को उद्वेग न पहुँचनाना, सच्चे, प्रिय व हितकारी वचन बोलना तथा स्वाध्याय का अभ्यास करना परम आवश्यक है । ऐसा करना ही वाणी का तप है -

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मय तप उच्यते ।। 17-15 ।।

मन की प्रसननता - मन का क्रोध आदि विकारों से रहित होना, सौम्यता - दूसरों की उन्नति के लिये मन का झुकाव, मौन-मन के द्वारा वाणी की प्रवृत्ति का संयम करना, आत्मनिग्रह-मन की वृत्ति का ध्येय में स्थिरतापूर्वक स्थापन करना, भावसंशुद्धि-आत्मा के अतिरिक्त किसी विषय के चिन्तन से रहित होना मानसिक तप है ।

प्रश्न : गुणों के अनुसार स्वाभाविक श्रद्धा कितने प्रकार की होती है और कौन-कौन सी होती है ? (17/2,4)

उत्तर : त्रिविध भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।। 17-2 ।।

भगवान् कहते हैं हे अर्जुन ! बद्ध जीव की श्रद्धा उसके गुणों के अनुसार सात्विकी, राजसी और तामसी - ऐसे तीन प्रकार की होती है ।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः ।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जना : ।। 17-4 ।।

सात्विक पुरूष देवताओं को पूजते हैं, राजस पुरूष यक्ष और राक्षसों को तथा अन्य जो तामस मनुष्य हैं - वे प्रेम और भूतगणों को पूजते हैं ।

प्रश्न : सात्त्विक दान क्या है ? (17/20)

उत्तर : दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।

दान देना कर्त्तव्य है - इस बुद्धि से योग्य देशकाल में, सत्पात्र को प्रत्युपकार की इच्छा बिना जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक दान है ।

वैदिक शास्त्रों में परमार्थ परायण मनुष्य को दान देने का विधान है । अविवेकपूर्ण दान करना शास्त्र सम्मत नहीं है । दान करते समय लेने वाले की पारमार्थिक पूर्णता को अवश्य ध्यान में रखना चाहिए ।

शास्त्र के अनुसार तीर्थ में, सौर-चन्द्र ग्रहण में, मन्दिर में अथवा पौर्णमासी के दिन सादाचारी ब्राह्मण अथवा वैष्णव को दान देना चाहिए । दान प्रत्युपकार की इच्छा के बिना ही करे । कभी-कभी मनुष्य दयाभाव से द्रवित होकर दरिद्रों को दान देता है, परन्तु यदि कोई दरिद्र मनुष्य उसका पात्र नहीं है तो ऐसे दान से किसी को भी पारमार्थिक लाभ नहीं होगा ।

भाव यह है कि पात्र-अपात्र को ध्यान में रखे बिना दान देना वैदिक शास्त्रों द्वारा सम्मत नहीं है । इस प्रकार हम कह सकते हैं कि शास्त्रों के विधान द्वारा प्रत्युपकार की भावना बिना दिया गया दान ही सात्त्विक दान है ।

प्रश्न : "ॐ तत् सत्" की महिमा का वर्णन कीजिये ? (17/23 से 26)

उत्तर : ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा ।। 17-23 ।।

अर्थात् ॐ, तत् , सत् - ये तीनों अक्षर सच्चिदानन्दघन ब्रह्म के वाचक हैं । इसी से सृष्टि के आदि काल में ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि प्रकट हुए थे ।

'ॐ' की महिमा बताते हुए कहा गया है -

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदान तपः क्रियाः ।
प्रवर्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् ।। 17-24 ।

'तत् ' नाम के प्रयोग का वर्णन इस प्रकार है -

तदित्यनभिसंधाय फलं यज्ञतपः क्रियाः ।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः ।। 17-25 ।।

'सत्' के प्रयोग का वर्णन इस प्रकार है -

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते ।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्धः पार्थ युज्यते ।। 17-26 ।।

प्रश्न : सन्यास और त्याग किसे कहते हैं ? (18/2,3)

उत्तर : काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः ।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्याग विचक्षणः ।। 18-2/6

कुछ विद्वान् काम्य कर्मों के न्यास को - स्वरूपतः त्याग को ही संन्यास कहते हैं । कितने विचक्षण पुरूष यह कहते हैं कि मोक्षाशास्त्र में त्याग शब्द का अर्थ नित्य, नैमित्तिक और काम्य - इन सब प्रकार के कर्मों के फल का त्याग है और ज्ञानी जन सब कर्मों के फल के त्याग को 'त्याग' कहते हैं । यहाँ शास्त्रीय त्याग काम्य कर्मों का स्वरूपतः त्याग देना है या समस्त कर्मों के फल का त्याग है - यह विवाद दिखाते हुए भगवान् ने एक जगह 'त्याग' का और दूसरी जगह 'संन्यास' शब्द का प्रयोग किया है । इससे यह समझा जाता है कि भगवान् ने त्याग एवं संन्यास दोनों शब्दों का एक ही अर्थ स्वीकार किया है सकाम यज्ञ, तप व दान का त्याग करना चाहिए लेकिन आत्मशुद्धि एवम् आत्मविद्या की उन्नति के लिये किये जाने वाले यज्ञों का त्याग नहीं करना चाहिए -

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः ।
यज्ञ दानतपः कर्म न त्याजयमिति चापरे ।। 18-3 ।।

प्रश्न : सात्त्विक त्याग की परिभाषा लिखिये ? (18/23)

उत्तर : नियतं संङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ।।

अर्थात् जो शास्त्र नियम कर्म, कर्तापन के सम्बन्ध से रहित, बिनां राग-द्वेष के और कर्मफल न चाहने वाले पुरुष के द्वारा किया जाता है - वह सात्त्विक कर्म कहलाता है ।

तात्पर्य यह है कि जो कर्म वर्णाश्रम के अनुकूल, शास्त्रविहित हो, कर्त्तापन आदि के सम्बन्ध से रहित हो, बिना राग-द्वेष के किया गया हो अर्थात् कीर्ति

में राग और अकीर्ति में द्वेष करके न किया गया हो, तथा फलाभिसन्धि से रहित पुरूष द्वारा कर्त्तव्य समझ कर किया गया हो - वह सात्त्विक कर्म है।

प्रश्न : वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्मरूप स्वाभाविक कर्म को गीता में किन-किन नामों से जाना जाता है ?

उत्तर : प्रकृति के अनुसार शास्त्र विधि से नियत किये हुए जो वर्णाश्रम के धर्म और सामान्य धर्म रूप स्वाभाविक कर्म हैं उनको ही यहाँ स्वधर्म, सहज कर्म, स्वकर्म, नियम कर्म, स्वभावज कर्म, स्वभावनियम कर्म इत्यादि नामों से कहा गया है।

प्रश्न : गीता के अनुसार स्वधर्म व परधर्म से क्या तात्पर्य है ? (18/42 से 48)

उत्तर : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वाभाविक गुणों के अनुसार विभक्त किये गये हैं। शान्त, आत्मसंयम, तप, पवित्रता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा, ज्ञान-विज्ञान और भक्ति-विश्वास ये गुण ब्राह्मण के स्वाभाविक कर्म हैं। पराक्रम, तेज, धैर्य, सूझ-बूझ युद्ध में पलायन न करने का स्वभाव नेतृत्व एवं प्रजापालन- ये क्षत्रिय के स्वभाविक कर्म हैं। कृषि, गोरक्षा एवं व्यापार वैश्य के स्वाभाविक कर्म हैं तथा दूसरों की सेवा करना शूद्रों का सहज कर्म है।

सभी को अपने-अपने, कर्म स्वाभाविक कर्म - जो शास्त्र विधि से नियम हैं और जिन्हें स्वधर्म, सहज कर्म, नियतकर्म, स्वभावज कर्म आदि नामों से जाना जाता है - उसका ही पालन करना चाहिए। दोष युक्त भी स्वाभाविक कर्म को त्यागना नहीं चाहिए, क्योंकि धुँए से अग्नि के सदृश सभी कर्म किसी न किसी दोष से आवृत हैं अर्थात् अग्नि स्वयं शुद्ध और पवित्र है, फिर भी उसमें धुँआा होता है, लेकिन इससे अग्नि अशुद्ध नहीं हो जाता। अपने-अपने वर्ण के धर्म, जिसे स्वधर्म कहते हैं - को छोड़कर दूसरे के धर्म जिसे परधर्म या पर कर्म कहते हैं, नहीं अपनाना चाहिए अर्थात् जैसे क्षत्रिय धर्म त्याग कर ब्राह्मण धर्म नहीं अपनाना चाहिए। स्वधर्म में दोष भी हो तो भी ऐसा त्याग नहीं करना चाहिए बल्कि कृष्णभावनाभावित होकर कर्त्तव्य कर्म अर्थात् स्वधर्म-पालन के लिये कृतसंकल्प रहना चाहिए।

प्रश्न : पराभक्ति किसे कहते हैं ? (18/54)

उत्तर : जो तत्त्व ज्ञान की पराकाष्ठा है जिसको प्राप्त होकर और कुछ भी जानना बाकी नहीं रहता, वही यहाँ पराभक्ति, ज्ञान की परानिष्ठा, परम नैष्कर्म्य सिद्धि और परमसिद्धि इत्यादि नामों से कही गयी है। स्पष्ट है कि जब समरुप परमात्मा के साथ अभिन्नता के अनुभव होने से साधक का सर्वत्र समभाव हो जाता है, तब उसका परमात्मा में प्रतिक्षण वर्धमान एक विलक्षण

आकर्षण, खिंचाव अनुराग हो जाता है। उसी की पराभक्ति अथवा शुद्ध "भक्ति योग" कहा गया है। भगवान 'आत्मकाम' है इसलिए उनकी सेवा में लगा कृष्णभावना भावित जीव भी आत्मकाम हो कर - पराभक्ति से प्राप्त होता है।

प्रश्न : गीता का उपदेश किस व्यक्ति को नहीं सुनना चाहिए ? (18/67)

उत्तर : इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन
न चा शुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ।। 18-67 ।।

अर्थात् भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन ! तेरे हित के लिये कहे हुए इस गीता रूप परम रहस्य को किसी काल में भी न तो तपरहित मनुष्य के प्रति कहना चाहिए और न भक्ति (वेदशास्त्र, परमेश्वर, महात्मा तथा गुरूजनों में श्रद्धा-प्रेम व पूजा भाव का नाम भक्ति है) से हीन व्यक्ति के प्रति कहना चाहिए। न सुनने की इच्छा वाले व्यक्ति को तथा जो मेरी निन्दा करता है उसके प्रति भी गीता का उपदेश नहीं कहना चाहिए। (परन्तु जिनमें यह सब अवगुण न हो, ऐसे भक्तों के प्रति प्रेमपूर्वक, उत्साह सहित यह गीता का उपदेश कहना चाहिए।

प्रश्न : गीता माता के अध्ययन एवं श्रवण के माहात्म्य का वर्णन अपने शब्दों में कीजिए ? (18/70,71)

उत्तर : वास्तव में श्रीमद्भगवदगीता का माहात्म्य वाणी द्वारा वर्णन करने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। क्योंकि यह एक परम रहस्यमय ग्रन्थ है। इसमें समस्त वेदों का सार संग्रह किया गया है। श्री वेदव्यास जी ने महाभारत में गीता जी का वर्णन करने के उपरान्त कहा है -

गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृताः ।।

इस गीता शास्त्र में मनुष्य मात्र का अधिकार है, चाहे वह किसी भी वर्ण, आश्रम में स्थित हो, परन्तु भगवान में श्रद्धालु और भक्ति युक्त अवश्य होना चाहिए क्योंकि अपने भक्तों में ही भगवान् ने इसका प्रचार करने के लिये आज्ञा दी हैं साथ ही यह भी कहा है कि स्त्री, वैश्य, शुद्र और पाप योनि वाले मनुष्य भी मेरे परायण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं -

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। 9/32 ।।

परन्तु कुछ लोग गीताशास्त्र के मर्म को न समझने के कारण - अपने बच्चों को गीता का अभ्यास नहीं कराते। वे साचते हैं कि गीता पढ़ने से मेरा बालक घर छोड़कर सन्यासी हो जायेगा। यह शास्त्र केवल सन्यासियों के लिये हैं। यह सर्वथा अनुचित हैं।

इस प्रकार सोचने वालों को यह विचार करना चाहिए कि मोह के कारण अपने क्षत्रिय-धर्म से विमुख होने वाला अर्जुन, भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वहन करने को तटस्थ अर्जुन, गाण्डीव का त्याग कर अपने स्वधर्म से उदासीन

हुआ अर्जुन - किस प्रकार इस गीताशास्त्र के परमरहस्यमय उपदेश से आजीवन गृहस्थाश्रम में रहकर अपने कर्त्तव्य का पालन करता रहा। जो गीताशास्त्र कर्म की प्रेरणा प्रदान करता है - कृष्ण के प्रति, परम सत्ता के प्रति श्रद्धा-भक्ति से जीने के लिये मार्गदर्शन करता है - उस गीताशास्त्र का उल्टा परिणाम कैसे हो सकता है ?

अतएव कल्याण की इच्छा वाले मनुष्य को उचित है कि मोह को त्याग कर अतिशय श्रद्धा-भक्ति पूर्वक स्वयं इस शास्त्र का अध्ययन तो करे ही अपने बालकों को भी इसी मार्ग पर चलने को उत्साहित व प्रेरित करें गीता में भगवान् के मुखारविन्द से निःसृत इस मूल मंत्र का उन्हें समुचितरूपेण शिक्षण दें -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतु र्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।। 2-47 ।।

गीता के माहात्म्य की घोषणा करते हुए स्वयं भगवान् ने कहा है -

अध्येष्यते च इमं धर्म्यं संवादभावयो : ।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ।। 18-70 ।।

अर्थात् जो कोई भी पुरुष (भगवान् के) मेरे इस पावन संवाद रूप गीताशास्त्र का पाठ करेगा, उसके द्वारा मैं श्रीकृष्ण ज्ञान-यज्ञ से पूजित हो जाऊँगा।

दूसरे शब्दों में गीताशास्त्र, गीता माता के पावन संवाद को पावन मन से अध्ययन करने से भगवान् के प्रति किये जाने वाले ज्ञानयज्ञ के फल की प्राप्ति होती है -

श्रद्धावाननसूयश्च श्रणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभाल्लोकानप्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।। 18-71 ।।

अर्थात् जो कोई द्वेष रहित होकर श्रद्धाभाव के साथ इसका श्रवण करेगा - वह श्रद्धावान है सच्चे भक्त के मुखारविन्द से यदि वह भगवत् - कथामृत का श्रवण करे, तो परिणाम में तत्काल सम्पूर्ण पापों से मुक्त होकर पुण्यात्माओं के लोकों को प्राप्त कर सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्ययन - श्रवण से जीव भगवत् - चिन्तन की ओर उन्मुख होता है। इससे निश्चल भगवत् - स्मरण होने लगता है और देह-त्याग के अनन्तर श्रीभगवान् का संग करने योग्य दिव्य शरीर को भी पाया जाता है

नित्य, निरन्तर अनन्य भाव से भागवत् स्मरण का अभ्यास करने वाले को निःसन्देह भगवत् - धाम की प्राप्ति होती है। जैसा कि गीता के 8वें अध्याय में वर्णित है -

अभ्यासयोगयुक्तेन, चेतसा नान्यगामिना ।
परमं पुरुषं दिव्यं, याति पार्थानुचिन्तयन् ।। 8-8 ।।

प्रश्न : भगवद्-दर्शन होने से मोह नहीं रह जाता । अर्जुन ने भगवान् के विराट रूप, चतुर्भुज रूप द्विभुज रूप-तीनों के दर्शन कर लिये फिर भी उनका मोह दूर क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर : श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण सृष्टि के मूल हैं । वे अवतार नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण अवतारों के उद्गम हैं, अवतारी है । वे साधारण मनुष्य और मेरे सखा मात्र नहीं है - अर्जुन को जब ऐसा ज्ञान हो गया, विश्वास हो गया, तब वह परम प्रबुद्ध हो गया परन्तु फिर वह विचार करने लगा कि श्रीकृष्ण को सब कारणों का कारण स्वीकार कर लेने पर भी हो सकता है, दूसरा ऐसा स्वीकार न करे । अत: भगवान् कृष्ण स्वयं भगवान् हैं, अवतारी हें - इस सत्य को जीव मात्र के लिये सार्वभौम रूप से स्थापित करने के उद्देश्य से अर्जुन ने श्रीकृष्ण से विश्वरूप दर्शन कराने की प्रार्थना की । तब उसे विश्वरूप-दर्शन करने के लिये भगवान् ने दिव्य चक्षु प्रदान किये, क्योंकि विश्वरूप दर्शन चर्म-चक्षु (सामान्य नेत्रों) से नहीं किया जा सकता था ।

विश्वरूप दर्शन से जब अर्जुन कम्पित और भयभीत हो उठा तो कृपामय प्रभु ने उसे अपने मूल सौम्य मानुषरूप -द्विभुज रूप का दर्शन कराकर, शान्ति प्रदान कर धीरज दिया ।

श्रीकृष्ण के साथ यथार्थ रस-सम्बन्ध रखने वाले भक्त उनके प्रेममय रूपों के प्रति ही आकृष्ट होते हैं, ऐश्वर्य के निरीश्वर प्रदर्शन से नहीं । कृष्ण के सहचर, सखा, माता-पिता यह कभी नहीं चाहते कि श्रीकृष्ण उन्हें अपने ऐश्वर्य का प्रदर्शन करके दिखाये । उन्हें तो श्रीकृष्ण के साथ प्रेमरस का विनिमय करते हुए यह विस्मृति-सी हो जाती है कि श्रीकृष्ण परमेश्वर हैं । जहाँ परमपुरूष को महर्षिगण ब्रह्म मानते हैं वहाँ भक्त उन्हें भगवान मानता हैं वहीं साधारण पुरूष उन्हें माया का कार्य समझते हैं ।

वास्तव में विश्वरूप दर्शन से भक्त का कोई प्रयोजन नहीं है । अर्जुन तो केवल श्रीकृष्ण के कथन को कि " मैं तो अवतरी हूँ, परमपुरुष हूँ " - सिद्ध करने के लिये विश्वरूप देखना चाहता था ताकि भविष्य में होने वाले मनुष्य यह समझ सकें कि श्रीकृष्ण ने अपने को परमसत्य मात्र घोषित ही नहीं किया, बल्कि अर्जुन को वास्तव में अपने इस स्वरूप का दर्शन भी कराया । अर्जुन को इस सत्य को प्रामाणिक करना आवश्यक था, क्योंकि उससे परम्परा का प्रारम्भ हो रहा था ।

भगवान् के तत्त्वबोध के लिये जो अर्जुन के चरण-चिन्हों का अनुसरण करते हैं - उन मनुष्यों को यह भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि श्रीकृष्ण ने केवल परम सत्य होने का दावा ही नहीं किया. अपने इस रूप को वास्तव में प्रकट भी किया।

भगवान् यह जानते थे कि अर्जुन इस विश्वरूप का दर्शन अपने लिये नहीं चाहता, फिर भी लोक-कल्याणार्थ, विश्वासार्थ उन्होंने उसका निवेदन स्वीकार कर उसे दर्शन कराया। मोह नष्ट करने के लिये अर्जुन ने यह निवेदन नहीं किया था। यही कारण है कि अद्भुत विश्वरूप, विराट रूप, द्विभुज रूप देख कर उसका मोहभंग नहीं हुआ।

प्रश्न : निष्काम कर्म योग को और किन-किन नामों से जाना जाता है ?

उत्तर : फल में आसक्ति को त्यागकर भगवत् - आज्ञानुसार केवल भगवदर्थ समत्व बुद्धि से कर्म करने का नाम निष्काम कर्मयोग है। इसी को समत्व योग, बुद्धियोग, कर्मयोग, तदर्थकर्म, मदर्थकर्म, मत्कर्म आदि नामों से जाना जाता है।

प्रश्न : अध्यात्म ज्ञान किसे कहते हैं ?

उत्तर : आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी ज्ञान अर्थात् ब्रह्म और आत्मविषयक जानकारी अर्थात् उपनिषदों द्वारा बताये गये सिद्धान्त ही अध्यात्म ज्ञान है।

प्रश्न : श्रीमदभगवद्गीता का अर्थ स्पष्ट कीजिये ?

उत्तर : श्रीमद्भगवद्गीता का अर्थ है - भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को दिये गये निष्काम कर्म के उपदेशों एवं अध्यात्म-ज्ञान से पूर्ण धार्मिक-ग्रंथ। यह गन्थ सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का सार-सर्वस्व है। इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का 'सर्वप्रधान उपनिषद् गीता' है।

श्रीपद्मनाभ विष्णु भगवान् के मुखारविन्द से निःसृत यह एक ऐसा ग्रन्थ है, जिसका प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने से व्यक्ति भय, शोक से रहित हुआ भगवान् विष्णु के परम पद की प्राप्ति करता है। यथा -

गीता शास्त्रमिदं पुण्यं
यः पठेत्प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति
भयशोकादि वर्जितः ।।

प्रश्न : गीता में कुल कितने अध्याय और कितने श्लोक है ?

उत्तर : श्रीमद्भगवद् गीता में कुल 18 अध्याय और 700 श्लोक हैं।

प्रश्न : निष्कामी पुरुष की क्या महिमा है ? परम शान्ति को कौन प्राप्त करता है ? 12/70

उत्तर : भगवान् कहते हैं कि जैसे सब ओर से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र के प्रति समस्त नदियों का जल उसको चलायमान न करते हुए ही उसमें समा जाता है, वैसे ही जिस स्थिर बुद्धि पुरुष के प्रति सम्पूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं वह पुरूष परम शान्ति को प्राप्त करता हे न कि भोगों को चाहने वाला ।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमान्प्रोति न कामकामी ।।2/70।।

अभिप्रायः यह है कि इन्द्रियों के द्वारा शब्दादि विषयों का सेवन किये जाने और न किये जाने में भी जो पुरुष अपने आत्म साक्षात्कार से सदा तृप्त रहा है - इस कारण विकार को नहीं प्राप्त करता - वही शान्ति को प्राप्त होता है । भोगों की कामना करने वाला अर्थात् जो शब्दादि विषयों के द्वारा विकार को प्राप्त होता है, वह कभी भी शान्ति को प्राप्त नहीं होता है ।

प्रश्न : निष्काम कर्मयोग से क्या तात्पर्य है ? गीता के अनुसार निष्काम कर्मयोगी कौन है ? 3/3

उत्तर : भगवान् अर्जुन से कहते हैं -

लोके-ऽस्मिन् द्विविधाः निष्ठा पुरा प्रोक्तामयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। 3-3 ।।

अर्थात् इस संसार में दो प्रकार की निष्ठायें मेरे द्वारा बतायी गयीं । हे निष्पाप अर्जुन ! सांख्य-योगियों के अनुसार ज्ञाननिष्ठा (ज्ञान योग)और कर्मयोगियों के अनुसार कर्मनिष्ठा (कर्म योग) फल में आसक्ति का त्याग करके भगवदानुसार भवदर्थ समत्व बुद्धि से काम करने का नाम निष्काम कर्मयोग है । इसे कर्मयोग, बुद्धियोग, मत्कर्म, मदर्थ कर्म, तदर्थ कर्म योग के नाम से भी जाना जाता हैं

जो साधक कृष्णभावना भावित होकर इन्द्रियों के विषयों से विकार को प्राप्त नहीं होता, बल्कि कृष्णचरणारविन्द में ध्यान लगाकर, निरासक्त कर्म करता है वही निष्काम कर्मयोगी कहलाता है ।

प्रश्न : दुःख-सुख, मानापमान इत्यादि द्वन्द्वों में कौन समान रूप से रहता है ?

उत्तर : सुख-दुःख, मानापमान इत्यादि द्वन्द्वों में स्थिर प्रज्ञ और भक्त, समान रहते हैं-

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः संङ्गविवर्जितः ।। 12-18 ।।

शत्रु-मित्र-मान-अपमान, सुख-दु:ख में समान रहने वाला भक्त मुझे प्रिय है - यह भगवान् ने स्वयम् अपने श्रीमुख से कहा है। दु:ख में उद्वेगरहित, सुख और स्पृहारहित, भय और क्रोध से रहित पुरुष स्थिर बुद्धि होता है। जो पुरुष आसक्ति रहित हुआ उस शुभ-अशुभ में न हर्ष करता है न द्वेष, न मान का अनुभव करता है और न अपमान का, वह पुरुष स्थितप्रज्ञ होता है -

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।। 2-68 ।।

प्रश्न : तप किसे कहते हैं?

उत्तर : मन, वाणी व शरीर (कर्म) को परमशुद्ध, निर्मल, सरल, निष्कपट, शान्त तथा स्थिर रखते हुए वाणी से - मन से या कर्म से किसी को भी कष्ट न पहुँचाना, देवता-ब्राह्मण-गुरू, ज्ञानियों एवं पूज्यजनों में श्रद्धा रखना, स्वाध्याय का अभ्यास करना, सौम्यता, मन की एकाग्रता बनाये रखना, एकाग्रचित्त (मन) से ध्येय में स्थिर रहना तप कहा जाता है।

प्रश्न : गीता में अर्जुन ने कुल नाश से उत्पन्न होने वाले कौन कौन से दोष बताये हैं ? 1/40,41

उत्तर : कुलक्षये प्रणश्यति कुल धर्मा: सनातना: ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम धर्मोऽभिमवत्युत ।40।
तथा -
अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रिय: ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकर: ।41।

जब युद्ध होता है तो कुल का क्षय होता है । जब से कुल आरम्भ हुआ है, तभी से. कुल के धर्म, कुल की मर्यादा, परम्पराएँ रीतियाँ, परम्परा से चली आ रही है । परन्तु जब कुल क्षय हो जाता है तब सदा से कुल के आश्रित रहने वाले धर्म नष्ट हो जाते हैं । कुल के वयोवृद्धों की मृत्यु हो जाने पर, पारस्परिक शुद्धि कर्म, लुप्त होने लगते हैं और कुल अधर्म में प्रवृत्त होने लगता है । अधर्म कुल को दबा लेता है ।

अधर्म बढ़ने से सात्विक बुद्धि का नाश हो जाता है । जिससे आचरण अशुद्ध होने लगता है । विपरीत बुद्धि से कुल की स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और वर्ण संकर पैदा होने लगते हैं । इसके परिणामस्वरुप, कुल धर्म के साथ, जाति-धर्म भी नष्ट होने लगता है पर उसका नाशवान भोग समाप्त नहीं होता है और वह काल चक्र रुप कृष्ण के मुखों में प्रवेश करता रहता है ।

स्पष्ट है कि कुल-नाश से, कुल-धर्म, परम्पराएँ, कुल-मर्यादा, जाति-धर्म सभी कुछ नेष्ट होने लगते हैं । इन सभी धर्मों के नष्ट होने से उत्पन्न वर्ण संकर सन्तानों से सामाजिक अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है व समाज में अधर्म, अशान्ति, असन्तोष का साम्राज्य हो जाता है ।

भर्तृहरि वैराग्य शतक में वर्णन प्राप्त होता है कि -

दीपक पतंगे के दाहक स्वरुप को न जानने के कारण ही उस पर गिरता है । मछली भी अज्ञान वश ही, वशी में लगे हुए, माँस के टुकड़े को निगलती है । परन्तु हम-मानव जानते हुए भी विपत्ति के जटिल जाल में फँसने वाली कामनाओं को नहीं छोड़ पाते । अहो । मोह की महिमा बड़ी गहन है ।

प्रश्न : मनुष्य न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापमय आचरण करता है ? 3/37

उत्तर : काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव: ।
महनाशो महापाप्मा विद्धेयनमिह वैरिणम् ।।3/37।

भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि हे अर्जुन । मनुष्य या जीवात्मा अपने आद्य-स्वरुप में, दिव्य, शुद्ध व समस्त प्राकृतिक विकारों से मुक्त हैं । क्योंकि वह परमात्मा का अंश है । वह प्राकृत-जगत् के पापकर्मों में प्रवृत्त हो ही नहीं सकता है । लेकिन यह जीव जब सासारिक माया के संसर्ग में आता है तो उसकी दिव्यता, पवित्रता धीरे धीरे धूमिल होती जाती है । जैसे धुँए से अग्नि आवृत्त होती है।

इस प्रकार धुँधली होती हुई अपनी दिव्यता के कारण वह कभी इच्छा से, कभी अनिच्छा से बलात् पापमय कर्म करता रहता है ।

यद्यपि जीवात्मा पापमय आचरण करना नहीं चाहता. फिर भी वह उसमें प्रवृत्त होता है । पर उसे पापमय आचरण के लिए ईश्वर प्रेरत नहीं करता है - उसे प्रेरित करने वाला तो रजोगुण से उत्पन्न 'काम' है । जो 'काम' (कामना. वासना, भोग की इच्छा) बाद में क्रोध का रुप धारण कर लेता है । यह काम कभी भी तृप्त होने वाला नहीं है । यह संसार में जीवात्मा का महापापी शत्रु है ।

प्राकृत-सृष्टि के संसर्ग से ईश्वर-भक्ति-भाव, काम में वैसे ही बदल जाता है जैसे खटास के संसर्ग से दूध, दही के रुप में बदल जाता है । यह काम-अतृप्त रह जाने पर क्रोध का रुप धारण कर लेता है । और क्रोध सम्मोह में परिणत हो जाता है । इसी सम्मोह के कारण भव-बन्धन का चक्र अविराम गति से चलता रहता है और मनुष्य इन्हीं काम, क्रोध दुर्गुणों के कारण, उसके प्रभाव से न चाहता हुआ भी पापमय आचरण करता है ।

प्रश्न : गीता में इन्द्रिय, मन, बुद्धि व आत्मा में किसे सर्वश्रेष्ठ माना गया है ? किसके द्वारा 'काम' का नाश किया जा सकता है ? 3/42/43

उत्तर -

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्य: परं मन: ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धे परतस्तु स: ।42।
एवं बुद्धे: परं बुदध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरुपं दुरासदम् ।।43।।

भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन । इन्द्रियों को स्थूल शरीर से पर (श्रेष्ठ, प्रकाशक, सबल, व्यापक अथवा सूक्ष्म) कहते हैं । इंन्द्रियों से पर मन है और मन से भी पर बुद्धि है और बुद्धि से भी जो अत्यन्त परे है वह आत्मा है । (परत:=उत्तम) । स:=वह अर्थात् आत्मा)

अर्थात् सम्पूर्ण देह की तुलना में इन्द्रियाँ श्रेष्ठ है । इन्द्रियों की तुलना और मन की तुलना में बुद्धि श्रेष्ठ है । क्योंकि मन से भी उत्तम बुद्धि की संकल्प शक्ति है तथा बुद्धि से भी उच्चतर आत्मा है । अतएव यदि आत्मा भगवन्निष्ठ हो जाय तो, बुद्धि मन, इन्द्रियाँ आदि, उसके सब अनुगामी अपने आप भक्ति-निष्ठ हो जायेंगे ।

अतएव सीधे सीधे आत्मा के स्वरुप को समझने से सम्पूर्ण प्रापञ्चिक समस्या का समाधान हो सकता है । अपने दिव्य-आत्म-स्वरुप को जानकर बुद्धि द्वारा चित्त को वश में करके, आत्म शक्ति से युक्त होकर इस कामरुपी कभी शान्त न होने वाले दुर्जेय शत्रु का नाश किया जा सकता है । सुख के लिए ही कामना होती है और स्वरुप सहज सुख राशि है । इसलिए परमात्म तत्व का साक्षात्कार होते ही 'काम' (संयोग जन्य सुख दे की इच्छा) सर्वदा, सर्वथा मिट जाता है ।

प्रश्न : कौन पुरुष कर्म में प्रवृत्त होता हुआ भी कुछ नहीं करता है ? 4/20

उत्तर : **त्यक्तवा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रय: ।**
कर्मव्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चितत्करोति स: । 4/20

गीता में, भगवान अर्जुन से कहते हैं कि हे अर्जुन । जो पुरुष सांसारिक आश्रय से रहित सदा परमानन्द परमात्मा में तृप्त है, वह कर्मों के फल एवं उसकी असक्ति, अर्थात् कर्त्तृत्व - अभिमान को त्याग कर, कर्म में अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ नहीं करता है ।

स्पष्ट है कि कृष्ण भावना भावित होकर श्रीकृष्ण की प्रीति के लिए सब कर्म करते हुए मनुष्य कर्म बन्धन में नहीं पड़ता है । कर्म बन्धन से मुक्त हो जाता है क्योंकि विशुद्ध भगवत् प्रेम से प्रेरित होकर कर्म करने के कारण, उसे कर्मों के फल में कुछ भी आकर्षण नहीं होता है । शुभ-अशुभ किसी भी फल की उसे चिन्ता नहीं रहती हे । वह जानता है कि वह परमेश्वर का अभिन्न अंश है इसलिए अंशों के अंश के रुप में, उसकी भूमिका का निर्णय भगवान् स्वयं क्रेंगे । वह पूर्णतया श्रीकृष्णाश्रित हो जाता है, इसलिए अपने परिपोषण तक में उसकी आसक्ति नहीं रहती है। अपने योग-क्षेम की चिन्ता भी नहीं रहती है। इसलिए कर्मयोग से सिद्ध ऐसा महापुरुष कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता है । यद्यपि वह सांड्गोपांग रीति से (अर्थात् पूर्ण निष्ठा से पूर्ण कार्य कौशल प्रकट करता हुआ कर्म करता है क्योंकि उसकी कर्मफल में असक्ति नहीं होती है । उसके सम्पूर्ण कर्म ईश्वर-अर्पण व संसार के हित के लिए होते हैं (यह अकर्म अर्थात् निष्काम कर्म का लक्षण है) फिर भी, वह कर्म करता हुआ भी कर्त्तापन के अभिमान से रहित होने से कुछ भी नहीं करता है ।

इसके विपरीत आसक्त व्यक्ति कर्म करते करते, बीच बीच में, कर्म फल का चिन्तन करने से, अपने पूरे मनोयोग व पूरी शक्ति से कर्म नहीं कर पाता है ।

निर्लिप्त भाव से कर्म करने वाला ऐसा कर्मयोगी महापुरुष कर्म बन्धन से मुक्त, लोकहितार्थ सब कर्म करते हुए भी वास्तव में कुछ नहीं करता है ।

प्रश्न : गीता में समदर्शी का अर्थ समझाने के लिए कौन सा श्लोक है लिखिए । 5/18

उत्तर : **विघाविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।**
शुचि चैव श्वपाके च पण्डिता:ऽसमदर्शिन: ।।
अर्थात् -

ज्ञानी महापुरुष. विद्याविनययुक्त ब्राह्मण में. चाण्डाल में. गाय में हाथी व कुत्ते में भी. रामरुप मानव. परमात्मा को देखने वाले होते हैं । समदर्शी को ईश्वर सृष्टि के कण कण में. हर जीव जन्तु में ईश्वर के दर्शन होते हैं ।

प्रश्न : भगवद्गीता के सातवें अध्याय का प्रतिपाद्य विषय क्या है ? 7

उत्तर : श्रीमद्भगवद्गीता के 7वें अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण के प्रकाश मान विभिन्न स्वरुपों का पूर्ण निरुपण प्राप्त होता है । सर्वमय. सर्वातीत. सर्वगुणातीत, अनन्त श्री, ऐश्वर्य वीर्य, श्री, ज्ञान, वैराग्य, शक्ति, तेज आदि विभिन्न श्री विभूषित परमेश्वर अपरा एवं परा प्रकृति द्वारा सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अधिष्ठातृ देवता, अक्षर कूटस्थ ब्रह्म एवं अक्षर-ब्रह्म से भी श्रेष्ठ पुरुषोत्तम आदि अनन्त रुपों में जो अभिव्यक्त है । वह भगवान् ही 'समग्र' भगवान है । सूत्र में पिरोई हुई मणियों की माला के समान भगवान् ही संसार में ओत प्रोत है । इन्हीं गूढ़ रहस्यों का उद्‌घाटन प्रभु ने अपने भक्त सखा-अर्जुन के लिए इस सातवें अध्याय में प्रस्तुत किया है :-

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः ।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छणु ।। 7/1

प्रश्न : 'अपरा' प्रकृत्ति एवं परा-प्रकृत्ति किन रुपों में अभिव्यक्त होती हैक और इनके क्या नाम हैं ? 7/4/5

उत्तर : **भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।**
अहंकार इतीयं में भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।7/4
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि में पराम् ।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् । 7/5

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश मन, बुद्धि और अहंकार - यह आठ प्रकार के भेदों वाली 'अपरा' प्रकृत्ति (अर्थात् जड़ प्रकृत्ति) है ।

परमात्मा सबके कारण हैं । वे प्रकृत्ति को लेकर सृष्टि की रचना करते हैं । जिस प्रकृत्ति को लेकर परमात्मा सृष्टि की रचना करते हैं वह यही 'अपरा' प्रकृति है ।

इस 'अपरा' प्रकृत्ति से भिन्न भगवान् की जीवरुपा 'परा' प्रकृत्ति है । अर्थात् भगवान का अपना अंश जो जीव है उसको भगवान 'परा' प्रकृत्ति कहते हैं । 'अपरा' प्रकृत्ति निकृष्ट, जड व परिवर्तनशील है, तथा 'परा' प्रकृत्ति, श्रेष्ठ, चेतन एवं परिवर्तन रहित है । इस 'परा' प्रकृत्ति एवं 'अपरा' प्रकृति को लेकर जगत् धारण किया जाता है ।

अपरा प्रकृत्ति में जो, पृथ्वी, जल तेज, वायु और आकाश ये पाँच स्थूल सृष्टि में माने जाते हैं तथा मन, बुद्धि और अहंकार सूक्ष्म सृष्टि में माने जाते हैं। इनकी सृष्टि में शब्द, स्पर्श, रूप, रस व गंध ये पाँच इन्द्रिय विषय अन्तर्भूत है। प्राकृत विज्ञान इन दस तत्वों तक सीमित है। अन्य तत्व (मन, बुद्धि और अहंकार) विषयियों द्वारा उपेक्षित है।

जीव रुपी परा शक्ति से संचारित हुए बिना भौतिक सृष्टि कुछ भी क्रिया नहीं कर सकती है। शक्तियाँ नित्य शक्तिमान के अधीन रहती हैं।

प्रश्न : **श्रीमद्भावद्गीता के आठवें अध्याय में अर्जुन ने भगवान श्रीकृष्ण से कितने और कौन कौन से प्रश्न किये हैं ? 8**

उत्तर : गीता के 7वें अध्याय के अन्त में भगवान ने अपने समग्र रुप का वर्णन करते हुए ब्रह्म, अध्यात्म, कर्म अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ इन छ: शब्दों का उल्लेख कर इसे जानने वाले योगियों को अन्तकाल में अपनी प्राप्ति बताई है। जिसे सुनकर अर्जुन ने इन शब्दों के विशद व स्पष्ट ज्ञान के लिए भगवान से आठवें अध्याय में 7 प्रश्न पूछे हैं -

अर्जुन द्वारा पूछे गये वे सात प्रश्न निम्नवत् हैं --

'किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ।।
अधियज्ञं कथं कोऽत्र देहेऽस्मिनन्मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभि: ।।8/12/

1. ब्रह्म क्या है ? अर्थात् ब्रह्म शब्द से क्या अर्थ समझना चाहिए।
2. अध्याय किसे कहते हैं ?
3. 'कर्म' क्या है ?
4. आपके द्वारा प्रयुक्त 'अभिभूत' शब्द का क्या अर्थ है ?
5. अधिदैव किसे कहते हैं ?
6. 'अधियज्ञ' का क्या तात्पर्य है ? यह 'अधियज्ञ' इस देह में कैसे हैं ?

भगवान से अर्जुन द्वारा पूछा गया सातवाँ प्रश्न था कि नियमात्मा मनुष्य द्वारा अन्तकाल में आप कैसे जाने में जाते हैं ?

प्रश्न : **कैसे मनुष्य अविचल भक्तियोग से युक्त होता है ? 10/7**

उत्तर : **एतां विभूतिं योगं च मम योवेति तत्वत: ।**
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशय: । 10/7

भगवान् कहते हैं कि जो मेरी इस विभूति को.और योग को तत्व से जानता और दृढ़तापूर्वक मानता है, वह अविचल भक्ति योग से युक्त हो जाता है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है।

श्रीमद्भावद्गीता के 7वें, 9वें, 10वें, 11वें एवं 15वें अध्याय में भगवान ने अपनी विभूतियों का विशद वर्णन किया है। सृष्टि की समस्त जीवनी शक्ति, सृष्टि का कारण परमेश्वर ही है। ईश्वर की विभूतियों से ही सर्वत्र, सर्वस्व भसित, जीवित, सौन्दर्यमान व शक्तिमान, तेजवान व प्रकाशवान है।

'विभूति' नाम ईश्वर के ऐश्वर्य का है और 'योग' नाम भगवान की अलौकिक विलक्षण शक्ति, अनन्त सामर्थ्य का है। तात्पर्य यह है कि भगवान की शक्ति का नाम 'योग' है और उस योग से प्रकट होने वाली विशेषताओं का नाम 'विभूति' है।

'विभूति' और योग को तत्व से जानने का तात्पर्य है कि संसार में कारण रुप से जो कुछ प्रभाव, सामर्थ्य है, उसमें कार्य रुप में प्रकट होने वाली जितनी विशेषताएँ हैं, अर्थात् वस्तु और व्यक्ति आदि में जो कुछ विशेषता देखने में आती है प्राणियों के अन्त:करण में प्रादुर्भूत होने वाले जितने भाव हैं, मानवों में जो ज्ञान, बुद्धि विवेक है, सूर्य व चन्द्र में जो प्रभा (प्रकाश) है, वेदों में प्रणव (ओंकार) है - आकाश में शब्द है, तपस्वियों में तप है, इस प्रकार संसार की उत्पत्ति व संचालन में जो भी विलक्षणताएँ हैं सब का कारण एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर, योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं। ऐसा तत्व से जो जानता है। सबका आदि, मूल योगेश्वर को ही मानता है और उसकी ही विशिष्टताओं का कण कण में प्रतिक्षण दर्शन करता है, उसे ही नमन करता है उसे ही भजता है। ऐसा भक्त अविचल भक्तियोग को प्राप्त करता है।

प्रश्न : दीपक और पतंग के दृष्टान्त से जीव के नाश के दृष्टान्त को समझइए।11/29

उत्तर : **यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतंगा**
विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोका -
स्तवापि वस्त्राणि समृद्धवेगाः।

अर्थात् -

जैसे पतंगे मोहवश, अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से प्रज्वलित अग्नि में प्रवेश कर जाते हैं। इसी प्रकार सब कौरव लोग मोहवश अपना नाश करने के लिए बड़े वेग से दौड़ते हुए, योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख में प्रविष्ठ होते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे पतंगा प्रकाश की प्राप्ति हेतु अग्नि की ओर दौड़ता है पर उससे उन्हें प्रकाश नहीं मिल पाता वरन् प्रप्रज्वलित अग्नि

में जलकर वह भस्म हो जाता है। वैसे ही मनुष्य सांसारिक भोगों एवं लोक संग्रह का चिन्तन करता हुंआ, बड़े वेग से उधर ही बढ़ता जाता है। इसमें वह मान-अपमान, चिन्ता, घाटा, निन्दा जलन सब कुछ सहता है। यहाँ तक कि जिस आयु के बल पर वह जी रहा है वह आयु भी समाप्त होती जाती है। पर अन्तिम समय तक भोग की लिप्सा समाप्त नहीं हो पाती है जिससे मानव मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाता है और भोगों का भोग करते करते दीपक की ओर बढ़ते पतंगे की भाँति सम्पूर्ण रुप से विनष्ट हो जाता है।

प्रश्न : **भगवान के विराट रुप को देखकर भयभीत हुए अर्जुन ने, भगवान के किस स्वरुप को देखने की इच्छा प्रकट की ? 11/46**

उत्तर : **किरीटिनं गदिनं चक्र हस्त -**
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहें तथैव।
तेनैव रुपेण चतुर्भुजेन
सहस्त्रबाहो भव विश्वमूर्ते।

भगवान के विराट रुप को देखकर जब अर्जुन भयभीत हो गये तो उन्होंने प्रभु से निवेदन किया, हे विष्णो। मैं आपको, शंख, चक्र, गदा पद्म लिए हुए चतुर्भुज रुप में देखने की इच्छा करता हूँ। अर्थात् अर्जुन ने भगवान् के विश्व रुप व सहस्त्रबाहु स्वरुप को छोड़कर चतुर्भुज स्वरुप को देखने की इच्छा प्रकट की।

प्रश्न : **अश्वत्थ-वृक्ष के रुप में संसार की महिमा का वर्णन कीजिए। 15**

उत्तर : इस प्राकृत-जगत् के बन्धन को यहाँ गीता में आलंकारिक भाषा में पीपल का पेड़-अश्वत्थ-वृक्ष कहा गया है। सकाम कर्मों के लिए इसका अन्त नहीं है। वह एक शाखा से दूसरी पर, दूसरी से तीसरी पर, तीसरी से चौथी पर - भटकता रहता है। जो इस संसार-वृक्ष में आसक्त हैं उसकी मुक्ति नहीं हो सकती हे। आत्मोन्नति की ओर लक्षित-वैदिक-मंत्र इस वृक्ष के पत्ते हैं।

भंगवान् ने इस वृक्ष की जड़ों को ऊपर बतलाया है क्योंकि ये - ब्रह्मा जी के निवास, सत्यलोक से निकलती है। जो ब्रह्मा का सर्वोपरि लोक है। प्राकृत्त जगत् रुप-वृक्ष, वैकुण्ठ जगत् रुपी वास्तविक वृक्ष का, प्रतिबिम्ब मात्र है।

वास्तविक वृक्ष का प्रतिबिम्ब होने से, यह संसार-वृक्ष, वास्तविक-वृक्ष का ठीक प्रतिरुप है और प्रतिबिम्ब सदा क्षण भंगुर होता है। कभी दृष्टिगोचर होता है, कभी नहीं होता। इसलिए संसार क्षण-भंगुर है। परन्तु इस प्रतिबिम्ब का स्त्रोत शाश्वत है। हमें असली वृक्ष की प्राकृत-छाया को काटना है।

वेद - इस संसार-वृक्ष के पत्ते हैं। वेदविहित कर्मों से ही संसार की वृद्धि व रक्षा होती है।

इस संसार-वृक्ष की गुणों (सत्व, रज एवं तम) द्वारा बढ़ी हुई तथा विषय रुपी कपोलों वाली शाखायें, नीचे, मध्य व ऊपर सभी जगह फैली हुई है। ये मनुष्य-योनि में मनुष्यों को कर्मों के अनुसार बाँधने वाली है।

इस वृक्ष का वास्तविक रुप कभी संसार में प्रत्यक्ष नहीं होता है । इसके आदि, अन्त अथवा आधार को भी कोई जान नहीं सकता है । इसलिए इस संसार-वृक्ष को, दृढ़-निश्चय के साथ, वैराग्यरुपी शस्त्र से काटकर फिर उस परमपद को खोजना चाहिए, जिसे प्राप्त करने के उपरान्त संसार में फिर नहीं आना पड़ता है।

प्रश्न : अविनाशी पद किसे प्राप्त होता है ? 15/5

उत्तर : निर्मानमोह जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामा: ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुख दु:ख संज्ञै -
गच्छन्त्यमूढा पदभव्ययं तत् । 15/5

जो महामानव, मान, मोह से रहित हो गये हैं, जिन्होंने आसक्ति से होने वाले दोषों को जीत लिया है, जो नित्य निरन्तर परमात्मा में लगे हुए हैं जो (अपनी दृष्टि से) सम्पूर्ण कामनाओं से रहित हो गये हैं, जो सुख-दु:ख रुपी द्वन्द्वों से रहित हो गये हैं - ऐसे (उच्च स्थिति वाले) मोह रहित साधक भक्त उस 'अविनाशी' (परमात्मा) परमपद को प्राप्त होते हैं ।

प्रश्न : शास्त्र विधि को त्याग कर इच्छानुसार कर्म करने वालों की निन्दा क्यों की जाती है ? 16/23

उत्तर : जो पुरुष शास्त्र विधि को त्यागकर अपनी इच्छानुसार मनमाना आचरण करते हैं उनकी निन्दा इसलिए की जाती है क्योंकि ऐसे व्यक्तियों के कर्म पापमय होते हैं। ये पापमय कर्म दुर्गति के कारण होते हैं । इससे उन्हें किसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । परमगति भी प्राप्त नहीं होती है । यहाँ तक कि वे सांसारिक सात्विक सुखों से भी वंचित रहते हैं । सांसारिकता में डूबे ऐसे मानव में विश्वास नहीं करते हैं । यदि ईश्वरीय-आस्था की भावना यदा कदा उनमें जागती भी है तो वह मात्र स्वार्थवश ही जागती है, भक्ति अथवा श्रद्धा से नहीं । ऐसे व्यक्ति सदाचरण करने में भी कभी समर्थ नहीं हो पाते हैं । अत: ऐसे दुराचारी, पापमय आचरण करने वाले नास्तिक व्यक्तियों की संसार में निन्दा ही होती है । इनकी सदा निन्दा की जाती है ।

प्रश्न : 'ऊँकार' प्रयोग की व्याख्या कीजिये ? 17/24

उत्तर : ॐ तत् सत् - यह तीन प्रकार का सच्चिदानन्द धन ब्रह्म का नाम है । उसी से सृष्टि के आदिकाल में ब्राह्मण, वेद तथा यज्ञादिक रचे गये हैं ।

इसीलिए वैदिक सिद्धान्तों को मानने वाले पुरुषों की शास्त्र विधि से नियत यज्ञ, दान और तप रुप क्रियायें सदा 'ॐ' इस परमात्मा के नामं कर उच्चारण करके ही प्रारम्भ होती है ।

इसका कारण है कि सबसे पहले ॐ - प्रणव प्रकट हुआ है । उस प्रणव की तीन मात्राएँ हैं। उन मात्राओं से त्रिपदा गायत्री प्रकट हुई है और त्रिपदा गायत्री से ऋक्, साम और यजु: - यह वेदत्रयी प्रकट हुई है । इस दृष्टि से 'ॐ' सब का मूल है । इसीलिए जितनी भी वैदिक क्रियायें की जाती है । ये सब ॐ का उच्चारण करने के बाद ही की जाती है ।

अनेक श्रुति स्मृति-वचनों द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जो ब्रह्म को जानने की इच्छा करते हों तो ऊँकार का अवलम्बन करें । ऊँकार का अवलम्बन ही परम अवलम्बन है । इससे ही ब्रह्म लोक की प्राप्ति होती है । 'ऊँकार' - 'प्रणव' ही परब्रह्म रुप है ।

प्रश्न : कर्ममात्र की सिद्धि के कौन पाँच कारण है ? 18/13,14

उत्तर : **पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।**
सांख्येकृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ।।
अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणं च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ।

सम्पूर्ण कर्मों के सिद्ध होने में पाँच हेतु सांख्य सिद्धान्त में बताये गये हैं । भगवान् अर्जुन को समझाते हैं कि तुम सांख्य-सिद्धान्तों को भलीभाँति समझो ।

कर्मों की सिद्धि - (1) अधिष्ठान (2) कर्त्ता, (3) अनेक प्रकार के कारण । (4) विविध प्रकार की अलग अलग चेष्टायें तथा (5) दैव (संस्कार) इन पाँचों के होने से ही कर्म सिद्धि होती है ।

(1) अधिष्ठान - अर्थात् शरीर तथा जिस देश में शरीर स्थित वह देश, दोनों अधिष्ठान कहलाते हैं ।

(2) कर्त्ता - सम्पूर्ण क्रियायें प्रकृत्ति से तथा प्रकृति के कार्यों द्वारा ही होती है । प्रकृत्ति से होने वाली क्रियाओं को अविवेकी पुरुष जब अपनी मान लेता है - तब वह कर्त्ता बन जाता है । ऐसा कर्त्ता ही कर्मों की सिद्धि में हेतु बनता है ।

(3) अनेक प्रकार के कारण - कारण कुल 13 बताये गये हैं । 5 ज्ञानेन्द्रियाँ 5 कर्मेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि एवं अहंकार ।

(4) विविध प्रकार की अलग अलग चेष्टायें - इन तेरह कारणों की अलग अलग चेष्टायें होती हैं जैसे - पाणि (हाथ) की चेष्टा है आदान-प्रदान करना, पाद चेष्टा - आना-जाना चलना-फिरना, श्रोत-सुनना, चक्षु-देखना इसी प्रकार बुद्धि - निश्चय करना तथा अहंकार चेष्टा - 'मैं ऐसा हूँ' आदि अभिमान करना । इत्यादि ।

(5) दैव - कर्मों की सिद्धि में पाँचवे हेतु का नाम दैव है । यहाँ दैव नाम संस्कारों का हैं ।

मनुष्य जैसा कर्म करता है वैसा उसके अन्त:करण पर शुभ-अशुभ संस्कार पड़ता है । वे ही संस्कार आगे कर्म करने की स्फुरणा पैदा करते हैं ।

इस प्रकार इन पाँचों के होने से ही कर्म सिद्धि होती है ।

प्रश्न : गीता के अनुसार कर्म-संग्रह एवं कर्म-प्रेरणा का निरुपण कीजिए । 18/18

उत्तर : ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना ।
करणं कर्म कर्तेति । त्रिविध: कर्मसंग्रह: ।।8/18

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता इन तीनों से ही कर्म प्रेरणा होती है । तथा करण, कर्म, और कर्त्ता से कर्म-संग्रह होता है ।

'ज्ञान' - हर एक मनुष्य की कोई प्रवृत्ति होती है । प्रवृत्ति के पूर्व ज्ञान होता है। जैसे जल-पीने की प्रवृत्ति के पूर्व प्यास का ज्ञान होता है । जल, आदि जिस विषय का ज्ञान होता है, वह 'ज्ञेय' कहलाता है । और जिसको ज्ञान होता है, वह परिज्ञाता कहलाता है ।

ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता, इन तीनों के होने से ही कर्म करने की प्रेरणा होती है ।

कर्म-संग्रह के भी तीन हेतु हैं । करण, कर्म और कर्त्ता । इन तीनों के सहयोग से कर्म पूरा होता है । जिन साधनों से कर्त्ता, कर्म करता है, उन क्रिया करने वाले साधनों (इन्द्रियों आदि) को 'करण' कहते हैं । खाना-पीना, उठना-बैठना आदि जो क्रियायें की जाती हैं - उनको 'कर्म' कहते हें और 'करण' तथा क्रिया से उनका सम्बन्ध जोड़ कर कर्म करने वाले को 'कर्त्ता' कहते हैं । ये तीनों मिलकर कर्म बनता हैं

यदि कर्त्ता में कर्त्तापन न हो तो कर्म-संग्रह नहीं होता, केवल क्रिया मात्र होती है । कहने का तात्पर्य है कि अहंकृत भाव न रहने से, कर्म-संग्रह नहीं होता । अर्थात् कर्म बाँधने वाला नहीं होता है ।

प्रश्न : सात्विक कर्त्ता के लक्षण बताइए ? 18@26

उत्तर : मुक्तसंङ्गोऽनहंवादी, धृत्युत्साहसमन्वित: ।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकार: कर्ता सात्विक उच्यते । 18/26

जो कर्ता राग रहित, अनहंवादी, धैर्य एवं उत्साह युक्त तथा सिद्धि व असिद्धियों में निर्विकार है, वह सात्विक कर्त्ता कहा जाता है ।

मुक्तसंग: - अर्थात् कर्मों के साथ राग न होना । अनहंवादी - अर्थात. पदार्थ, वस्तु और परिस्थिति आदि को लेकर अपने में एक विशेषता का अनुभव करना - अहंवदनशीलता है जो आसुरी-सम्पत्ति होने से अत्यन्त निकृष्ट है । सात्विक कर्त्ता में ऐसे भाव नहीं रहते हैं । वरन् - मैं इन चीजों का त्यागी हूँ, मैं निष्काम हूँ, मैं सम हूँ - आदि इस प्रकार के भी भावों का उसमें अभाव होता है । अर्थात् जो कर्म के कर्तापन से हीन होने के बाद, पूर्णत: निर्विकार हो - वही सात्विक कर्त्ता माना जाता है ।

प्रश्न : ज्ञान योग के अनुसार भगवत् प्राप्ति का पात्र बनने के क्या उपाय हैं ? 18/51,52,53

उत्तर : जो भक्त विशुद्ध सात्विकी बुद्धि से युक्त, वैराग्य के आश्रित, एकान्त का सेवन करने वाला और नियमित भोजन करने वाला, साधक, धैर्यपूर्वक इन्द्रियों का नियमन करके, विषयों का त्याग कर देता है । राग-द्वेष को छोड़कर निरन्तर ध्यान योग के पराण हो जाता है, वह अहंकार, दर्प, बल, काम, क्रोध और परिग्रह का त्याग करके, निर्मम एवं शान्त हुआ, भगवत् प्राप्ति का पात्र बन जाता है ।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्म भूयाय कल्पते । 18/53

प्रश्न : अनन्य भक्ति के क्या लक्षण हैं ? 18/66

उत्तर : **सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान ने अपने श्रीमुख से घोषणा की है कि हे मानव । सभी धर्मों को छोड़कर अर्थात् धर्म के निर्णय का विचार छोड़कर मेरी शरण में आ जाओ । क्योंकि ईश्वर की शरण में जाना ही सम्पूर्ण साधनों का सार है ।

अनन्य भक्ति । अनन्य भक्ति, प्राप्त, भक्त, एक पतिव्रता पत्नी के समान अपने लिए कोई कार्य नहीं करता है । वह सब कुछ ईश्वर के लिए करता है । जैसे पतिव्रता स्त्री के लिए कोई अपना कार्य नहीं रहता है । वह अपने शरीर की सार-सम्भाल भी पति के नाते, पति के लिए ही करती है । घर कुटुम्ब, पुत्र-पुत्री, यहाँ तक कि अपना शरीर भी पति का ही शरीर मानती है । और उसकी खुशी के लिए ही सबका कार्य करती है । खुश रहती है और खुश करती है ।

पति का गोत्र अपना गोत्र मानती है । उसका घर, अपना घर मानती है । उसी प्रकार अनन्य भक्त शरीर को लेकर, माने-जाने वाले गोत्र, जाति व नाम आदि को भगवान को चरणों में अर्पण करके, निर्भय, निःशोक एवं निःशंक हो जाता है । यही अनन्य भक्ति का लक्षण है ।

ऐसे भक्तों की सम्पूर्ण देख रेख का दायित्व, ईश्वर स्वयम् वहन करते हैं । उनके योग-क्षेम को वही धारण करते हैं । शरणागत भक्त को भक्त-वत्सल की शरण में जाने के बाद कुछ भी सोचना नहीं पड़ता है ।

प्रश्न : गीता के आये हुए कुछ सुभाषित -

1. न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।
2. यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: । 3/21
3. कर्मण्येवाधिकांरस्ते मा फलेषु कदाचन । 2/47
4. श्रद्धावानलभते ज्ञानम् । 4/39
5. जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु: ।
6. अन्तवन्त हमे देहा नित्यस्योक्ता: शरीरिण:" 2/18
7. स्वधर्मे निधनं श्रेय: परधर्मो भयावह: । 3/35
8. युक्त: कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्रोति नैष्ठिकीम् । 5/12
9. योगक्षेमं वहाम्यहम् । 9/22
10. अक्षराणामकरोऽस्मि । 10/33
11. स्वे स्वे कर्मण्यभिरत: संसिद्धिं लभते नर: । 18/45
12. श्रेयान्स्वधर्मो विगुण: परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । 18/47
13. ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । 18/61
14. यद्दाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन: । स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।/ 3/21।
15. संशयात्मा विनश्यति । 4/40।
16. गहना कर्मणो गति: । 4/17!
17. कर्मयोगो विशिष्यते । 5/2।
18. वासुदेव: सर्वम् ।7/19।
19. समोऽहं सर्वभूतेषु ।9/20
20. त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।12/12।
21. यस्तुं कर्मफल त्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ।18/11।

त्याग में ही शान्ति है

'त्याग' और 'शान्ति' - ये दोनों पद आध्यात्मिक सुखोपलब्धि के मूल मंत्र हैं। इसके वारस्तविक अर्थ को समझने वाला मनुष्य अति सहज भाव से शान्ति प्राप्त कर, ईश्वरीय अनुकम्पा का पात्र बन जाता है।

प्राय: लोगों की यह धारणा है कि सांसारिक सम्बन्धों, स्त्री-पुत्र, घर-परिवार, माता-पिता आदि को छोड़कर साधु-सन्यासी हो जाना ही 'त्याग' कहलाता है। परन्तु यह सत्य नहीं, यह भ्रम है। यदि ऐसा होता तो संसार का त्याग करने वाले सभी साधु-सन्यासी, ऋषि विश्वामित्र व वाल्मीकि आदि के समान सिद्ध-महात्मा, त्यागी-पुरुष बन जाते।

स्पष्ट है कि सांसारिक सम्बन्धों को, प्रलोभनों को छोड़ देना त्याग नहीं है, न इनको छोड़कर शान्ति ही प्राप्त की जा सकती है। इसके विपरीत इन भोगों या कामनाओं का भोग करके भी तृप्ति प्राप्त नहीं हो संकती है जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है -

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

यदि भोग से तृप्ति मिलना सत्य होता, तो पाषाण युग से विकासोन्मुख मानव आज, अणु-परमाणु व कम्प्यूटर के युग तक भी पहुँचने के बाद, पुनः शान्ति की खोज में भटकता नहीं दिखाई पड़ता। विकास के जिस चरमोत्कर्ष तक, आज हम पहुँच चुके हैं निश्चय ही वह हमारी बहुत बड़ी वैज्ञानिक उपलब्धि है। पर क्या आज संसार में कहीं शान्ति है ? नहीं जहाँ देखिए, वहाँ अशान्ति, जिधर दृष्टिपात कीजिए - उधर असन्तोष, प्रतिस्पर्धा, राग-द्वेष, भोगों की लिप्सा और अनन्त-असीम-कामनाओं की पूर्ति के अभाव में हंगामा ही मचा हुआ है। स्पर्धा-प्रतिस्पर्धा में मनुष्य एक दूसरे के खून का प्यासा हो रहा है।

भोगों के प्रति लोलुप मानव समझता है कि इनकी पूर्ति में ही सुख है। परन्तु जहाँ किसी वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं, वहाँ वह कैसे प्राप्त की जा सकती है ? इस मार्ग पर चलते हुए, मुनष्य ईश्वर के सामीप्य से वंचित होता जाता है। ईश्वरीय सत्ता को भूलकर मनुष्य, संसार भँवर में फँसकर अधिकाधिक दुःख गर्त में धँसता जाता है। परन्तु क्या किसी को, कभी ईश्वर को विस्मृत कर शान्ति की प्राप्ति हुई है ? क्या बिना 'जल' ग्रहण किए, प्यास बुझाई जा सकी है ? क्या बिना 'प्राण वायु' के जीवन धारण

किया जा सकता है अथवा क्या बिना छिद्र की सुई में सूत्र पिरोया जा सकता है ? नहीं। ऐसा कुछ भी सम्भव नहीं है। फिर बिना परमात्म-प्राप्ति के सुख-शान्ति की कामना कैसे फलीभूत हो सकती है ?

वास्तव में शान्ति तो मात्र 'त्याग' में निहित है। त्याग से ही अपने जीवन के परम तत्व परमात्मा एवं मोक्ष को प्राप्त किया जा सकता है।

संसार में रहकर, विषयों का भोग करते हुए भी परमेश्वर, मोक्ष व शान्ति, निरन्तर शान्ति की प्राप्ति की जा सकती है। यही गीता का वैशिष्ठ है। यह ऐसा अनुपमेय ग्रंथ है जो हमें सांसारिक सुखोपभोगों सहित आध्यात्मिकता के मार्ग तक सहज ही पहुँचा देता है। जीव का ईश्वर से मिलन कराता है। बस, जीव को एक ही बात स्मरण रखनी होती है कि वह त्याग करे प्रश्न उठता है कैसा त्याग ? किसका त्याग ? यह भोग-सहित त्याग, कैसे किया जाये?

उत्तर स्पष्ट है कि हमें कर्म तो करना ही है : बस भाव बदलने की आवश्यकता है। भाव बदलने से क्रिया अपने आप बदल जाती है। हमें यह समझना होगा कि जिसके साथ अपना सम्बन्ध कभी था नहीं, आगे होगा भी नहीं, अभी है भी नहीं, कभी हो सकता भी नहीं, तथा बिना त्याग किये ही जिसका प्रतिक्षण हमारे से सम्बन्ध विच्छेद हो रहा है, उसके साथ माने हुए सम्बन्ध का त्याग ही, वास्तविक त्याग है। तात्पर्य यह है कि हमें किसी व्यक्ति या वस्तु आदि का त्याग नहीं करना है, वरन् उन वस्तुओं, तथा सम्बन्धों से, जो सम्बन्ध, मान रखा है, उनमें जो आसक्ति, ममता, मोह व माया, मान रखी है उसका ही त्याग करना है। यह त्याग ही वास्तविक त्याग है। इसी से निरन्तर शान्ति की प्राप्ति होती है - गीता के 12 अध्याय के 12वें श्लोक में भगवान ने कहा है -

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्। 12/12

त्याग के विषय में मुख्य बात है कि संसार में, केवल, संसार के लिए रहना है, अपने लिए नहीं रहना है और ऐसा करने के लिए हमें सात्विक, राजिसक और तामस इन तीनों प्रकार के त्याग में से, सबसे श्रेष्ठ सात्विक त्याग को अपनाना होगा। क्योंकि सात्विक त्याग में ही कर्तव्य पालन मात्र करना होता है। उसमें आसक्ति व फलेच्छा नहीं रहती है और आसक्ति आदि न रहने से शरीर व संसार से, सहज ढंग से सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। गीता के 18वें अध्याय के 9वें श्लोक में इसका वर्णन प्राप्त होता है -

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्विको मतः।। 18/9

जब कि राजस त्याग में व्यक्ति के दु:ख पूर्ण परिणामों की आशंका से और कर्म करने में कष्ट के. भय से कर्तव्य-कर्मों का ही त्याग कर देता है । ऐसा करने से उसे शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है ।

तामस-त्याग में मोह के कारण मनुष्य नियत कर्म का स्वरुप से ही त्याग कर देता है जबकि उसे ऐसा करना नहीं चाहिए । क्योंकि धुएँ में अग्नि के समान. जितने भी कर्म हैं. वे सबके सब सदोष ही हैं । वरन् स्वभाव के अनुसार शास्त्रों में जो कर्म नियत किए गए हैं उन कर्मों को करता हुआ मनुष्य कभी पाप को प्राप्त नहीं होता है । स्वभाव नियत कर्म ही सहज कर्म कहलाते हैं - जैसे - ब्राह्मण के शम, दम आदि, क्षत्रिय के शौर्य तेज आदि, वैश्य के कृषि गौरक्ष्य आदि और शूद्र के सेवा कर्म । ये सभी सहज-कर्म है । जन्म के बाद शास्त्रों ने पूर्व के गुण और कर्मों के अनुसार जिस वर्ण के लिए. जिन कर्मों की आज्ञा दी है वे शास्त्र--नियत-कर्म ही, सहज कर्म कहलाते हैं । इन सहज कर्मों में कोई न कोई दोष होता ही है एक कर्म किसी के अनुकूल होता है तो वही दूसरे के प्रतिकूल होता है । ऐसा विचार कर सहज कर्म का त्याग करना तामस त्याग है और इससे भी मुक्ति या शान्ति नहीं प्राप्त होती है ।

वास्तव में मुक्ति, शान्ति की प्राप्ति में सहज-कर्म कभी बाधक नहीं होते हैं । बन्धन तो कामना आसक्ति, स्वार्थ और अभिमान आदि से होता है । पाप भी इन कामनाओं की पूर्ति में आई बाधाओं, गतिरोधों के कारण, मनुष्य करता है । इसलिए मनुष्य को निष्काम भाव पूर्वक भगवत्प्रीत्यर्थ सहज कर्मों को ही करना चाहिए । कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए, वरन् कर्म के प्रति आसक्ति फलेच्छा का त्याग,. कर्तृत्व अभिमान का त्याग करना चाहिए । समस्त काम्यकर्मों का त्याग, तृष्णा व आलस्य का त्याग करना चाहिए । यहाँ तक कि यज्ञ, दान, धर्म, तप आदि शुभ कर्मों के प्रति भी फलेच्छा व आलस्य का त्याग कर. सांसारिक जीवन जीने से सहज मुक्ति व शान्ति की प्राप्ति हो जाती है । मनुष्य इस प्रकार आन्तरिक शान्ति व नैष्ठिक शान्ति प्राप्त कर ईश्वरीय अनुकम्पा का पात्र हो जाता है । अत: सिद्ध है कि त्याग में ही शान्ति है -

बाह्यव्यक्तिपदार्थानां न त्यागस्त्याग उच्यते ।
कामादीनां परित्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षण: ।।

वर्तमान युग में भगवद्गीता के उपदेशों की प्रासंगिकता

हे कृष्ण करुणासिन्धो दीनबन्धो जगत्पते ।
गोपेश गोपिकाकान्त राधाकान्त नमोऽस्तुते ।

वर्तमान युग में भगवद्गीता के उपदेश शत प्रतिशत प्रासंगिकता एवं उपादेय है । यह विषय हमें यह सोचने को बाध्य करता है कि पहले हम यह चिन्तन करें कि आज का मानव किस धरातल पर खड़ा है ? उसकी मनोभूमि कैसी है ? उसकी चिन्तन की दिशायें व उसकी क्रियाशीलता, किससे प्रेरित व प्रभावित है ?

दूसरा विचारणीय विषय है जिस श्री गीता के उपदेशों की उपादेयता पर हम चिन्तन कर रहे हैं वह 'ग्रन्थ' क्या है ? कैसा है ? उसके ऐसे कौन से रहस्यमय प्रतिपाद्य विषय हैं जो हर युग की आवश्यकता है और निरन्तर प्रासंगिक एवं उपादेय हैं ।

वर्तमान युग का मानव अर्जुन के सदृश कर्तव्यच्युत हो दिशाहीन हो रहा है । वह एक ऐसे परिवेश में साँस ले रहा है, जहाँ उसके आध्यात्मिक उत्थान के लिए कोई मार्ग नहीं है । वह पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित हो, भौतिकता की दौड़ लगाता हुआ, भौतिक उपलब्धियों का दास हो गया है । लाल सेमल के पुष्पों पर चोंच मारते व निराश होते पक्षी की भाँति वह सांसारिक तृष्णापूर्ति में सुख न प्राप्त करता हुआ भी अज्ञानवश उसमें ही सुखों की फिर फिर खोज करता रहता है । इस दौड़ में वह मानवता एवं नैतिकता ही नहीं, अपने रचयिता को भी भूल कर अधर्म में प्रवृत्त हो रहा है ।

यावत् जीवेत् सुखं जीवत्

ऋणं कृत्वा घृतं पीवेत्

भस्मि भूतस्य देहस्य

पुनरागमनम् कुतः ।

यही आज के मानव की विचारधारा है । हम यह अनुभव करते हैं कि 'वसुधैव कुटुम्बकम' एवं 'सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः' जैसे -- उत्तम विचारों की धरोहर हमारी इस धरा पर विनाश के बादला मँडरा रहे हैं।

भौतिकता प्रधान इस युग का मानव, कामोपभोग परायण बन गया है । धार्मिक-आस्था व धर्म ग्रन्थों का अध्ययन, वह पागलपन समझता है । जबकि हमारे धार्मिक ग्रंथ हमारी भारतीयता की पहचान हैं । परन्तु खेद है कि हमारी यह पहचान भी मिटती चली जा रही है । हम आज, जाति, वर्ग व धर्म सम्बन्धी भेदभावों तथा साम्प्रदायिकता भ्रष्टाचार आदि के जाल बुन रहे हैं और उन भेदभावों से उत्पन्न विविध राग-द्वेष काम-क्रोध, लोभ-मोह के चक्र में स्वयं मकड़ी के झाले के समान उलझ रहे हैं ।

हम भूल गए हैं कि भगवान की दिव्यता से रहित ऐसी भौतिक-उन्नति मानव को रसातल में ले जाती है । अत: इस विनाश के कगार पर खड़े हुए जगत् को यदि कोई शक्ति बचा सकती है तो वह केवल आध्यात्मिक शक्ति है । भौतिक राजनैतिक सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से बिखरे वर्तमान युग के मानव को समेटने के लिए श्रीमद्भगवद्गीता के उपदेश पूर्णत: प्रासंगिक हैं ।

समाज की ऐसी चिन्ताजनक, डूबती स्थिति से उसे उबारने के लिए गीता के उपदेशों की परम् आवश्यकता है । यह युग की माँग है । इसके उपदेशों का प्रचार-प्रसार एक जनप्रिय लोक हितकारी आन्दोलन है । इसकी प्रासंगिकता, उपादेयता तो हर युग में रही है । जैसा कि श्रीकृष्ण ने गीता के चौथेअध्याय के प्रथम श्लोक में स्वयं कहा है कि सृष्टि के प्रारम्भ से ही मैं गीता के उपदेशों का गुरु-शिष्य परम्परागत रुप से प्रवचन करता आ रहा हूँ -

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।

विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।4/1।

सृष्टि के आदि काल में भगवान ने गीता का ज्ञान ग्रहण करने के लिए विवस्वान (सूर्य) को अपना प्रथम शिष्य बनाया था । त्रेता युग के प्रारम्भ में विवस्वान ने इस योग (भगवान से सम्बन्ध) विषयक-विज्ञान का मनु को उपदेश किया और मनु ने जो मानव मात्र के जन्मदाता हैं । इसे अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया । इक्ष्वाकु इस पृथ्वी के शासक एवं उस रघुवंश के पूर्वज थे जिसमें भगवान श्रीराम ने अवतार ग्रहण किया था । इक्ष्वाकु के बाद कालान्तर में यह गुरु-शिष्य परम्परा विश्रृंखलित हो जाने से यह ज्ञान लुप्त प्राय: हो गया । अत: आज से लगभग 5000 वर्ष पूर्व भगवान ने इसका पुन: गायन किया । इस बार उनका श्रोता कुरुक्षेत्र की भूमि पर खड़ा कर्त्तव्यच्युत हुआ अर्जुन है ।

विचारणीय विषय है कि मोहग्रसित अर्जुन युद्धस्थल में जब युद्ध से विरत हो, कर्त्तव्यविमुख होने लगा, तब परमेश्वर को उसे उसके कर्तव्य का बोध करा कर, स्वकर्त्तव्य पथ पर लाने के लिए गीता का उपदेश देना पड़ा किन्तु सूर्य, मनु और इक्ष्वाकु को इन उपदेशों की आवश्यकता क्यों पड़ी ?

स्पष्ट है कि सृष्टि के आरम्भ में भगवान् ने सूर्य को ही कर्मयोग का वास्तविक अधिकारी जानकर, उन्हें सर्वप्रथम इस योग (भगवान से सम्बन्धित ज्ञान) का उपदेश दिया। दूसरी बात - सर्वप्रथम उत्पन्न होने वाले को ही, प्रथम उपदेश दिया जाता है। जैसे ब्रह्मा जी ने सृष्टि के आदि में प्रजाओं को उपदेश दिया था। गीता के दूसरे अध्याय के 10वें श्लोक में इसका वर्णन प्राप्त होता है। उपदेश देने का अर्थ है - कर्त्तव्य का ज्ञान कराना। यह विज्ञान, विशेष रुप से प्रजाजनों की रक्षा के लिए प्रयोजित है। इसीलिए राजवंशों तथा लोक-अधिनायकों को, मानव जीवन को विद्या, संस्कृति व भक्ति की शिक्षा देने तथा उनका उचित मार्गदर्शन करने के लिए इसका ज्ञान, उपदेश देना परमावश्यक होता है। इसीलिए यह गीतोपदेशों का सृष्टि के आदि से क्रमशः समय समय पर शिष्य-परम्परा से प्रवचन होता आ रहा है।

आज हमारे समाज की स्थिति ऐसी है जबकि उसको उसे उचित मार्गदर्शन, मार्गदर्शक, उपदेशक की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिए शास्त्रों का सहारा लेना ही सर्वोत्तम मार्ग है। हमारी भारतीय-संस्कृति, धार्मिक ग्रंथों व शास्त्रों का असीम भंडार अपने आँचल में समेटे हुए हें। इसमें उसकी अनेक विधाएँ हैं परन्तु रोग-शोक आदि विघ्न-बाधाओं से आवृत्त इस छोटी सी जीवन-अवधि में मनुष्य को उन सबका पार पाना, कठिन ही नहीं, असम्भव भी है।

यह निर्विवाद सत्य है कि अनन्त-शास्त्रों का सार रुप शास्त्र मात्र श्रीमद्भावद्गीता है, जो साक्षात् विष्णु के मुखारविन्द से निसृत है। यह उनकी दिव्य वाणी है। यह मानव व ईश्वर का साक्षात् वार्तालाप है -

'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्ये शास्त्र विस्तरैः ।

या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिः सृता ।।

यह गीता-शास्त्र, शास्त्रों का भी शास्त्र है। हमें इसका अध्ययन अनुशीलन और पालन करना है। भगवान् ने स्वयं कहा है कि कर्तव्याकर्त्तव्य विवेक के लिए शास्त्र ही

परम प्रमाण है -

'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्य व्यवस्थितौ ।

गीता के 16वें अध्याय में कहा गया है कि जो शास्त्र आज्ञा का त्याग करके, अपनी इच्छानुसार मनमाना आचरण करते हैं, वे न तो सिद्धि को प्राप्त करते हैं, न परम गति को न सुख को ही प्राप्त होते हैं -

य: शास्त्रविविधमुत्सृज्य वर्तते कामकारत:

न स सिद्धिभवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।।16/23

गीता वह शास्त्र है जो पग पग परमानव को दिशा निर्देश कराता है । जब भी मानव-मन, किसी भी विषय को लेकर भ्रमित होता है, गीता उसे, उसका समाधान कराता है । कर्त्तव्यों व अकर्त्तव्यों के बीच उलझा मनुष्य जब कि कर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है तो गीता उससे कहती है हे भोले मानव ! अपने ही धर्म का आचरण करो । भटको नहीं ! भ्रमित मत हो । स्वधर्म पालन मे प्राण त्याग करना भी श्रेष्ठ है किन्तु परधर्म का आचरण कदापि नहीं करना चाहिए –

स्वधर्मे निधनं श्रेयो परधर्मों भयावह: ।

इस प्रकार मनुष्य को, मनुष्यवत् आचरण सिखाने के लिए, निष्काम कर्म की शिक्षा देने व ईश्वरीय आस्था-विश्वास को उत्पन्न करने वाला यह अनुपमेय ग्रंथ है । यह शास्त्र सांसारिक कर्त्तव्यों का भलीभाँति आचरण करते हुए, परमात्मा की प्राप्ति कराता है। भगवान का कथन है कि कर्तव्य का पालन करो । स्व-कर्त्तव्य पालन ही, धर्म पालन है । स्व-कर्तव्य पालन से ही दूसरों के अधिकारों की रक्षा स्वत: हो जाती हैं । यदि और विस्तृत दृष्टिकोण से विचार करें तो स्पष्ट है कि इस कर्तव्य पालन में यदि निष्कामभाव जोड़ दिया जाये तो, फलासकि का त्याग करके कर्तव्य पालन से तुम्हारा कर्त्ता का कर्त्तव्य भगवद् अपर्णार्थ हो जायेगा, और जब कर्म-अकर्म होकर ईश्वर को ही सब कुछ समर्पित हो ज़ायेगा तो फिर तुम्हारा योग-क्षेम भी वही वहन करेंगे । तुम मुक्त हो जाओगे । जैसा कि गीता में वर्णित है -

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

और

अनन्यश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।9/22

गीता का उपदेश है कि -

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

अतः भगवान की वाणी, उनके आदेशों का पालन करते हुए ही, जीवन-यापन करने में मुक्ति है । काम, क्रोध, लोभ-मोह सबका परित्याग करके 'वासुदेवः सर्वम' यही भाव,मन में दृढ़ता-पवित्रता से धारण करके अपने कर्तव्य पथ पर बढ़ते रहना चाहिए । ऐसा करने से भगवद् परायण शरणागत मानव दैवी-सम्पदा से युक्त हो जाता है ।

दैवी-सम्पदावान् मनुष्य सभी के प्रति समता एवं ममता के उत्कृष्ट भावों से युक्त होता है और यही समता व ममता का भाव ही जीवन-मार्ग को प्रशस्त कर सकता है । ऐसा शरणागत मानव किसी पाप का आचरण नहीं करता है न पाप का भागीदार बनता है। जब वह प्रभु की शरण हो जाता है तो प्रभु तो उसका सर्वप्रकारेण रक्षक होता है, फिर दीनबन्धु जिसका रक्षक हो, भक्त वत्सल भगवान् ने जिस भक्त पर अपने वरद् हस्त उठाये हों उसे कष्ट कैसा ? पाप कैसा ? भगवान स्वयं इसकी घोषणा करते हैं –

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ।

इस प्रकार सिद्ध है कि ईश्वर ही हमारा एकमात्र सुहृद है । उन्हीं की शरण, ग्रहण करना हमारा परम श्रेष्ठ व प्रथम कर्तव्य है । उसी से मानव शाश्वत शान्ति की प्राप्ति करता है इसमें सन्देह नहीं । गीता के 18वें अध्याय में भगवान कहते हैं -

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।

तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वम् । 18/62

वास्तव में गीता कर्मयोग, भक्ति योग एवं ज्ञान योग से समन्वित एक समग्र योग-शास्त्र है । जिसमें भगवान् ने जीवन के लक्ष्य का, धर्म के गूढ़ तत्वों का, भक्ति, ज्ञान व कर्म के मार्ग का बड़ी ही सरल शब्दावली में रहस्योद्घाटन किया है ।

'सर्वोपनिषदों गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।
पार्थो वत्सः सुधी भोक्ता दुग्ध गीतामृतम् महत् ।।

यह सन्यासियों का ग्रंथ नहीं है क्योंकि इसी अनुपमेय अमृत रस का पान करने के बाद भक्त अर्जुन परमेश्वर की भक्ति में डूबा, सराबोर हो बोल पड़ा - 'करिष्ये वचनं तव' - वह सन्यासी नहीं हुआ।

वर्तमान युग के मानव को भीअब अर्जुन के समान - 'करिष्ये वचनं तव' कहते हुए श्रीकृष्ण भावना भावित होकर गीताकार के आदेशों पर चलना होगा, तभी उसे संसार से मुक्ति व नैष्टिक शान्ति प्राप्त हो सकती है, होगी, और चतुर्दिक मँडराते काले बादल छँट जायेंगे। सभी भेदभाव समूल नष्ट हो जायेंगे व समता-ममता का सौहार्द्रपूर्ण वातावरण, शीतला सुख व शान्ति बिखेरने लगेगा।

गीता-माता की गोद में ही सर्व सुख प्राप्ति सम्भव है। यह गीता वह पावन गंगा है जिसमें एक बार स्नान करने मात्र से, सारे पाप, दुष्कृत स्वतः नष्ट हो जाते हैं -

'मलनिर्मोचनं पुंसां गंगा स्नानं दिने दिने।

सकृदगीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम् ।।

श्री गीता के माहात्म्य से प्रमाणित है कि गीतोपदेश पूर्णतः प्रासंगिक है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जगत् हितार्थ इस महान ग्रंथ रुप 'गीता' को जगत् को प्रदान किया है -

कर्त्तव्य शिक्षां च समत्व शिक्षां
ज्ञा ास्यभिक्षां शरणागतिम् च।
ददाति गीता करुणाद्रभूता
कृष्णेन गीता जगतो हिताय ।।
ॐ श्री परमात्मने नमः।

प्रथम पुरस्कार प्राप्त रचना
प्रहलादराय झुनझुनवाला गीता स्वाध्याय केन्द्र
द्वारा आयोजित प्रतियोगिता
कुमारी ५. स्मिता खन्ना
आर्य महिला इण्टर कॉलेज

प्रमुख सहायक ग्रन्थ

पुस्तक	लेखक
श्रीमद्भगवद्गीता यथारूप	श्री श्रीमद् ए०सी० भक्ति वेदान्त स्वामी प्रभुपाद ज
श्रीमद्भगवद्गीता	स्वामी रामसुख दास जी
गीता दर्पण	जयदयाल गोयन्दका जी
भारतीय संस्कृति का विकास	श्री मंगलदेव शास्त्री जी